श्री चारित्र स्मारक ग्रंथमाला : ग्रन्थाङ्क-४९

जिनवाणी

[तुलनात्मक दर्शन-विचार]

मूल लेखक

डॉ. श्री हरिसत्य भट्टाचार्य

एम. ए., बी. एल., पीएच. डी.

गुजराती अनुवादक

श्री सुशील

हिन्दी अनुवादक

वैद्य श्री गोपीनाथ गुप्त

'निदर्शन' (भूमिका) लेखक : पण्डित श्री सुखलालजी

प्रकाशक

श्री चारित्र स्मारक ग्रंथमाला

अहमदाबाद

आयन्निआ खणद्धं पि, थिरं ते करंति अणुरायं ।
परसमया तहवि मणं, तुह समयन्नूणं न हरंति ॥

—ऋषभपंचाशिका, ३९ ।

(हे जिनदेव !) आधी क्षणके लिये सुने हुए भी औरोंके (अन्य धर्मियोंके) आगम तेरे ऊपरके अनुरागको स्थिर करते हैं । और इस लिये जो तेरे सिद्धान्तको जानते है उनके चित्तको वे (औरोंके आगम) आकर्षित नहीं कर सकते ।

विषयानुक्रम

प्रकाशकीय निवेदन

श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमालाने इतः पूर्व प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी व गुजराती भाषाओंके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये है और जनताकी सेवामें नाना प्रकारका साहित्य पेश किया है। बहुत अरसेसे हमारी यह कामना थी कि, जैन-जैनेतर जिज्ञासुओंके हाथमें रक्खा जा सके ऐसा जैनधर्म—जैन दर्शन—विषय एक हिन्दी ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय। इस 'जिनवाणी' ग्रन्थको प्रकट करते हुए, हमारी दीर्घकालीन उस कामनाको सफल होती देखकर हम अति हर्ष व संतोषका अनुभव करते हैं।

श्रीमान् डॉ. हरिसत्य भट्टाचार्यजी एम. ए., बी. एल., पीएच. डी. जैन साहित्यके गहरे ज्ञाता है। उन्होंने बंगला या अंग्रेजी भाषामें जैन-धर्म विषयक छोटे बडे अनेक लेख—निबंध लिखे हैं। उनमेंसे चुने हुए कुछ बंगला लेखोका गुजराती अनुवाद जैनोंके लोकप्रिय लेखक श्रीमान् सुशीलभाई (श्री. भीमजीभाई हरजीवनदास परीख) ने करके 'जिनवाणी' नामक ग्रन्थमें संगृहीत किये थे। यह ग्रन्थ उसी 'जिनवाणी' का शब्दश: हिन्दी भाषान्तर है।

अहमदावाद-निवासी श्रीमान् शेठ खेमचन्द प्रेमचन्द मोदीकी संपूर्ण आर्थिक सहायतासे उनकी स्वर्गस्थ धर्मपत्नी श्रीमती मणिबहिनके स्मरणार्थ यह पुस्तक प्रकाशित की गई है, इस लिये हम उनके बहुत ऋणी है।

साक्षररत्न श्रीयुत सुशीलभाईने इसका हिन्दी अनुवाद करवानेकी हमें अनुमति दी है और साथ ही ऐसे अन्य लेख गुजराती व हिन्दीमें

स्व. श्रीमती मणिबहेन खेमचंद मोदी

हाजापटेलनी पोळमां साराकुवानी पोळ

जन्म : अमदावाद अवसान :

८ ऑगस्ट १८९३ २८ ऑक्टोबर १९५०

प्रकाशित करनेकी उत्साहपूर्ण सूचना की है; ऊंझा फार्मसीके मालिक श्रीमान् भोगीलालभाई नगीनदासजीने हिल्दौरीवाले वैद्य गोपीनाथजी गुप्तके पास स्वयं प्रकाशित करनेके हेतुसे तैयार करवाया हुआ यह अनुवाद हमें सहर्ष प्रकाशनार्थ दिया है, इस अनुवादका गुजराती ग्रन्थके आधार पर श्री. रतिलाल दीपचंद देसाईने संशोधन किया है; और शारदा मुद्रणालयने इसे सुचारु रूपमें मुद्रित किया है — एतदर्थ इन सभीके हम ऋणी है एवं उन्हें धन्यवाद देते हैं।

हिन्दी भाषाभाषी जनता (और राष्ट्रभाषाकी दृष्टिसे अब तो सारा देश) इस ग्रन्थके द्वारा भारतके एक विशुद्ध एवं गौरवपूर्ण दर्शनको पहिचाने और उसके द्वारा भारतीय संस्कृतिका दर्शन करके भारतवर्षकी नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगतिमें अग्रसर हों ऐसी अभिलाषा करते हुए हम यह ग्रन्थ जिज्ञासुओंके करकमलोंमें पेश करते है।

अहमदाबाद.
चैत्र शुक्ला १ :
वि. सं २००८

—प्रकाशक
(श्रीचारित्र स्मारक ग्रंथमाला)

संक्षेपमें —

[गुजराती संस्करणमें लिखित भूमिका]

—" जिनवाणी " नामक बंगला मासिक पत्रसे अनुवादित ये लेख यथावकाश क्रमशः गुजराती मासिक पत्रमें प्रकाशित हो रहे थे।

—दो-तीन लेख प्रकाशित होनेके पश्चात् ऊंझा-निवासी वैद्यराज नगीनदास छगनलाल शाहका ध्यान इस ओर आकर्षित हुवा और उन्होंने सन्देशा भेजा : " ये लेख पुस्तकाकार प्रकाशित हों तो विद्वानोंके हाथमें संग्रहके रूपमें पहुंच सके। "

—संक्षेपमें इस पुस्तककी यह जन्मकथा है।

—इन लेखोंके मूल लेखक श्रीयुत् हरिसत्य भट्टाचार्यजी हैं। वे जैनशास्त्र–साहित्यके पारंगत होनेका दावा नहीं करते। उन्होंने ये लेख जैनशास्त्र–सिद्धान्तोंके अभ्यासी होनेके नाते ही लिखे है। एक जैनेतरके यथाशक्य सावधानी रखते हुए भी क्वचित् भ्रम होना सम्भव है। इने लेखोंमें कहीं ऐसा हुवा है या नहीं यह मै नहीं कह सकता।

— श्री. भट्टाचार्यजीने जिन ग्रन्थोंका अध्ययन किया है उनके अनुसार पाठभेद हो, या ये लेख कई वर्ष पहिलेके लिखे हुवे होनेके कारण इनमें, अभी हालहीमें ज्ञात होनेवाले ऐतिहासिक विवरण न हों तो यह एक स्वाभाविक वात है।

—उन्हें जैन दर्शनमें कितनी श्रद्धा है, कितना मान है, यह वात तो इन लेखोंकी एक एक पंक्ति कह रही है।

—इनका तुलनात्मक अध्ययन एवं धाराप्रवाही लेखनशैलीको देखकर तो किसी भी जैन या जैनेतरके हृदयमें इनके लिये सम्मान उत्पन्न हुवे विना नहीं रह सकता।

—" जिनवाणी " मासिक पत्र दीर्घायु प्राप्त न कर सका, अत एव भट्टाचार्यजीके लेख भी अधूरे ही रह गए, यह खेदकी बात है। जैनेतर जिज्ञासु जैन दर्शनको किस श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते है यह बात इन लेखोंसे प्रकट होती है।

—बनारस हिन्दू युनिवर्सिटीकी जैन व्यास पीठ (चेअर) के अध्यक्ष श्रीमान् पंडित सुखलालजीको कुछ लेख संशोधनकी दृष्टिसे दिखला लिए गए हैं, और यथेष्ट अवकाश न होते हुवे भी उन्होंने इन लेखोंको पढ़ा और निदर्शन भी लिख भेजा है।

—श्री. पं. सुखलालजी, पूज्य मुनिराज दर्शनविजयजी, श्री. पं. भगवानदासभाई एवं श्री. हीराचन्द्रभाईने परामर्श और सूचना देने तथा टिप्पणी आदि लिखने एवं प्रूफ-संशोधन आदिमें जो सहयोग दिया है उसके लिए इन सज्जनोंका मैं अन्तःकरणसे आभार मानता हूं।

—ऊंझा-निवासी वैद्यराज श्री. नगीनदासभाईने पुस्तक-प्रकाशनकी समस्त व्यवस्था कर दी और मुझे प्रोत्साहित किया; इसके लिये उनका भी ऋणी हूं।

इस पुस्तकमें जो दोष रह गए हों, उनकी सूचना जो सज्जन देंगे उनका मैं कृतज्ञ हूंगा, एवं यदि दूसरी आवृत्तिका शुभावसर प्राप्त होगा तो उन दोषोंकी पुनरावृत्ति नहीं होने दूंगा।

पुनश्च—

[हिन्दी संस्करणके अवसर पर]

जिस समय मेरा स्वास्थ्य अच्छा था उस समय आवश्यक साहित्य-प्रवृत्तिके अतिरिक्त बंगला लेखोंका गुजराती भाषामें अनुवाद

करना यह मेरे लिये एक रस और शौखका काम वन गया था। सौभाग्यसे बंगलामें प्रकाशित होती 'जिनवाणी' पत्रिका मेरे देखनेमें आई। उसके चार-पांच अंक किसी तरह प्राप्त किये। मान्य श्री हरिसत्य वाबूके लेखोंने मुझे मुग्ध किया। फिर तो 'जिनवाणी' के हो सके उतने अंक प्राप्त करनेका यत्न किया। वंगालमें अधिक परिचय एवं पहिचान न होनेके कारण अधिक अंक तो प्राप्त न हुए, तो भी जितने प्राप्त हुए उनमेंके लेखोका अनुवाद करके उन्हें 'जिनवाणी' नामक ग्रन्थरूपसे प्रकाशित किये। गुजराती 'जिनवाणी'का अच्छा सत्कार हुआ जानकर मुझे खुशी हुई। आज गुजराती 'जिनवाणी'का हिन्दी संस्करण प्रकट हो रहा है, और उसमें मु. श्री. दर्शनविजयजी व ज्ञानविजयजी (त्रिपुटी)की प्रेरणा मुख्य कारण है, यह मेरे लिये सौभाग्यकी वात है। हिन्दी अनुवादको मैं सरसरी तौर पर देख गया हूं। हिन्दी अनुवादका सम्पादन वहुत सुन्दर हुआ है यह वात पुस्तकके देखते ही कह सकते है।

यदि मेरा स्वास्थ्य ठीक होता तो ऐसे सुन्दर रूपमें प्रकाशित होते ग्रन्थमें कुछ और नये अनुवादोंको दाखिल करके इसे अधिक समृद्ध करनेकी कोशिश करता। श्री हरिसत्य वाबूके अतिरिक्त श्री महामहोपाध्याय विधुशेखर बाबू एवं श्री सतीश वाबूके कितनेक लेखोंको अनुवादित करके दिया जाता तो उन लेखोंकी शैली और उनमेंका मसाला पाठकगणके लिये आदरणीय वन जाता। आज न सही, दो दिनके पश्चात् भी बंगला साक्षरोंके कितनेक लेख ग्रन्थरूपसे प्रकट करने योग्य है।

भावनगर, ता ३-३-५२ —सुशील

दो शब्द

जैन सिद्धान्तोंके तात्त्विक विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थ पढ़नेकी मेरी पुरानी इच्छा इस पुस्तकका अनुवाद करनेसे किसी हद तक पूरी हुई है, इसके लिये मैं इस पुस्तकके प्रकाशकोंका कृतज्ञ हूं।

मुझे जैनधर्मके क्रियाकाण्ड और सिद्धान्तोंमें विश्वास हो या न हो, परन्तु इस पुस्तकके पढ़नेसे मैं यह अवश्य समझ सका हूं कि प्राचीन जैनाचार्य केवल मुक्तिमार्गान्वेषी ही नहीं थे अपितु वे वैज्ञानिक भी थे। और जैन दर्शनमें कई सिद्धान्त ऐसे हैं जो इस युगके वैज्ञानिक सिद्धान्तोंसे टक्कर ले सकते हैं। उनमें कितनी सत्यता है यह कहना तो मेरे अधिकारके बाहरकी बात है, परन्तु मुझे वे वैज्ञानिकोंके मनन करने योग्य अवश्य प्रतीत होते हैं।

जो लोग जैन नहीं हैं उन्हें जैनधर्मका मर्म समझानेमें यह पुस्तक अवश्य सहायक होगी। हां, जो लोग धार्मिक ग्रंथ केवल खंडनमण्डनकी दृष्टिसे ही पढ़ते हैं — जो धार्मिक क्रियाकाण्ड और पूजन-याजनकी विधिको ही धर्मसर्वस्व समझते हैं — उन्हें शायद निराश होना पड़े।

इन्दौरी गोपीनाथ गुप्त,

निदर्शन

(लेखक · पण्डित श्री सुखलालजी संघवी)

बुजुर्गोंने रक्खे हुवे नाम 'भीम'को गौण करके स्वयं अपना 'सुशील' नाम रखने और उसे गुणनिष्पन्न सिद्ध करनेवाले भाई सुशील वाचक और विचारक जैन जनतासे शायद ही अपरिचित हैं। बहुत वर्ष पूर्व हम दोनों काशीमें एक साथ भी रह चुके है। उसके पश्चात् भी हमारा परिचय जारी रहा है। भाई सुशीलने प्रस्तुत लेखोंको पढ़कर उनके विषयमें कुछ लिखनेके लिये जब मुझसे कहा तो मुझे एक प्रकारसे बडा आन्तरिक संतोप प्राप्त हुवा; वह यह समझकर कि, भाई सुशीलके हृदयमें मेरा सादर स्थान होना चाहिये, और योग्य लेखकके समुचित लेख पढ़कर उनके विषयमें कुछ लिखनेका अवसर भी मिल रहा है। इस सन्तोपकी प्रेरणासे मैंने कुछ लिखना स्वीकार कर लिया। ये सब लेख पूर्णतः ध्यानपूर्वक सुनने पर उनका मेरे हृदय पर जो प्रभाव पड़ा है वह संक्षेपतः यहां व्यक्त कर रहा हूं। इन लेखोंके विषयमें कुछ लिखनेसे पूर्व अनुवादक और मूल लेखकके विषयमें भी कुछ संकेतरूपसे लिखना उचित ज्ञात होता है।

भाई सुशील मूल बंगला लेखोंके अनुवादक है। उनका बंगला भाषा विषयक ज्ञान कितना दृढ है, इस बातको जिन्हें और तरहसे खबर नहीं है वे केवल इन लेखोंको पढ़कर भी इसे भली भांति जान सकेंगे। इन गुजराती अनुवादोंको पढ़नेवालेको यह कल्पना तो शायद ही हो कि यह अनुवाद है। इस सफलताका कारण केवल बंगला भाषाका यथेष्ट ज्ञान ही नहीं है। सिर्फ सम्पादकीय लेखके

कारण भी जो 'जैन' पत्रको पढते है इन्हे यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि भाई सुशीलकी गुजराती भाषा एवं लेखनशैली साधारण और अपक्व नहीं है। बंगला और गुजराती भाषाका अच्छासा परिचय रखनेवाले और लेखनशक्ति-सम्पन्न अनेक भाई और कुछ बहिने भी आज गुजरातमें विद्यमान हैं, तथापि उनमेंसे किसीने भी इन लेखोंका अनुवाद किया होता तो वह इतना सफल होता, या नहीं, इसमें मुझे बहुत सन्देह है। क्यों कि, ऐसे लेखकोंमेंसे किसीको भी जैन शास्त्रीय ज्ञानका, भाई सुशीलके समान स्पष्ट और पक्व परिचय हो ऐसा मैं नहीं जानता। यही कारण है कि, भाई सुशील अपने अनुवाद-कार्यमें खूब सफल हुए है। इनका अनुवाद्य लेखोंका चुनाव भी जैन दर्शनके विशिष्ट अभ्यासियोंके दृष्टिकोणसे समुचित है। क्यों कि, बहुत अधिक अध्ययन और चिंतनके पश्चात् परिश्रमपूर्वक, नवीन शैलीसे, एक जैनेतर बंगाली सज्जनकी लेखिनीसे लिखे हुवे ये लेख जिस प्रकार नव जिज्ञासु गुजराती जगतके लिये प्रेरणा देनेवाले है, जिस प्रकार ये लेख गुजराती अनुवाद-साहित्यमें एक विशिष्ट वृद्धि करते हैं एवं दार्शनिक चिंतन-क्षेत्रमें उचित परिवर्द्धन करनेवाले हैं, उसी प्रकार ये, मात्र उपाश्रयसंतुष्ट एवं सुविधानिमग्न जैन त्यागीवर्गको विशाल दृष्टि प्रदान करनेवाले एवं उनके अपने ही विस्तृत कर्तव्यकी याद दिलानेवाले है।

प्रस्तुत लेखोंके मूल लेखक श्रीयुत् हरिसत्य भट्टाचार्यजीसे बहुत वर्ष पहिले, ओरीएन्टल कोन्फरन्सके प्रथम अधिवेशनके अवसर पर पूनामें भेट हुई थी। उस समय ही उनके परिचयसे मेरे ऊपर यह छाप पड़ी थी कि, एक बंगाली और वह भी जैनेतर सज्जन होते हुए भी वे जैन

थी। भट्टाचार्यजीके विषयकी मेरी तत्कालीन धारणा पुष्ट हो गई और वह सत्य भी सिद्ध हुई। अर्थात् भट्टाचार्यजीने जैन शास्त्रका अध्ययन और अनुशीलन दीर्घ काल तक जारी रक्खा। ये लेख उसीके फलस्वरूप कहे जा सकते हैं। जन्म और वातावरणसे जैनेतर होते हुये भी, उनके लेखोंमें जो अनेकविध जैन विषयोंकी यथार्थ जानकारी है और जैन विचारसरणीका जो वास्तविक स्पर्श है वह उनकी अध्ययनशीलता और सावधान बुद्धिको सिद्ध करते हैं। पूर्वीय तथा पश्चिमीय तत्त्वचिंतनका विशाल अध्ययन इनकी एम. ए. (और पीएच. डी.) की डिगरीको शोभा दे ऐसा है। इनका तर्कयुक्त निरूपण, इनकी वकील-बुद्धिकी साक्षी है। भट्टाचार्यजीकी यह सेवा, केवल जैन समाजमें ही नहीं अपितु जैन दर्शनके जिज्ञासु जैनेतर साधारण जगतमें भी चिरस्मरणीय रहेगी।

मेरे इस कथनको पढ़नेवाले सज्जनोंको ध्यान रखना चाहिये कि, मै इन लेखोंके विषयमें अपना विचार संक्षेपमें तथा प्रतिपादक सरणीसे ही प्रकट कर रहा हूं। इसके प्रत्येक मुद्देके बारेमें विस्तार पूर्वक तथा समालोचक दृष्टिसे लिखनेके लिये भी स्थान है, परन्तु इस समय मै इस दृष्टिसे नहीं लिख रहा हूं। प्रथम यह देखना चाहिये कि ये लेख किस प्रकारके जिज्ञासुओंके लिये लिखे गये है। 'जिनवाणी' मासिक पत्र बंगला भाषा में निकलता था। उसमें प्रकाशित ये लेख प्रधानतः बंगाली पाठकोंके लिये ही लिखे गये हैं। बंगाली पाठक यानि जन्मसे ही गुरुवचनको 'तहत्ति' 'तहत्ति' (तयेति) करनेवाला एक श्रद्धालु जैन नहीं; बंगाली पाठकगण यानि छोटे बड़े सभी विषयोंमें विवेचक और समालोचक दृष्टिसे, गहराईमें पहुंचकर सत्यकी खोज करनेवाले बिल्कुल आध्यात्मिक गण, ऐसा भी नहीं; परन्तु यह पाठकगण साधारणत: दर्शनमात्रमें रुचि रखेनवाला, प्रत्येक दर्शनके विषयमें न्यूनाधिक जानकारी रखनेवाला, तर्क–शैली और तुलनात्मक पद्धतिका मूल्य समझनेवाला एवं पंथ या सम्प्रदायकी चार दीवारीसे रहित विशाल ज्ञानाकाशमें अपने चित्तको स्वच्छन्द रीतिसे उड़ने देनेकी इच्छा रखनेवाला होता है। यह बात याद रखनी चाहिये कि, इस प्रकारके बंगाली पाठक-वर्गमें जैनोंकी अपेक्षा जैनेतर समाज ही मुख्य और अधिक है। उनमें भी प्रधानतः कौलेजके विद्यार्थियों और पण्डित प्रोफेसरोंका ही आधिक्य होता है। जब कोई, जन्मसे ही जैनेतर और बुद्धिप्रधान वर्गके लिये, जैन दर्शनके साधारण और विशिष्ट तत्त्वोंके विषयमें सफलता पूर्वक कुछ लिखना चाहता है तो यह स्वाभाविक बात है कि

उसे इन तत्त्वोंके विवेचनको यथाशक्ति रोचक और बुद्धिग्राह्य बनाना पडता है। निरूपणकी रोचकताका आधार उसकी शैली है। और तत्त्वोंकी बुद्धिग्राह्यता, अन्य दर्शनोंके तत्त्वोंके साथकी तथा पश्चिमी विचारप्रवाहके साथकी तुलना पर अवलंबित है। जैनेतर जनतामें भी जैन दर्शन संबन्धी विशिष्ट जिज्ञासा जागृत करनेके उद्देश्यसे लिखे गये इन लेखोंकी निरूपण शैलीमें हमें रोचकता और बुद्धिग्राह्यता, दोनों ही बातें दिखलाई देती हैं। क्यों कि, इन लेखोंकी शैली ऐसी प्रतिपादनात्मक एवं युक्तियुक्त है कि उसमें जैन दर्शनकी विशिष्ट स्थापनाका उद्देश्य होते हुवे भी उसमें न तो उग्रता ही है और न ही कटुता या किसीका आक्षेपपूर्ण खंडन। इन लेखोंमें जिन जिन विषयोंकी चर्चा की है, उनके संबन्धमें अन्य भारतीय दर्शनोंके साथ जैन दर्शनकी तार्किक तुलना की गई है। इतना ही नहीं, अनेक स्थानोंमें उस उस विषयके बारेमें पश्चिमी विचारकोंमें भी क्या क्या पक्ष-प्रतिपक्ष हैं यह भी प्रकट किया गया है। अत एव इन लेखोंको पढनेवाले मध्यम वर्गको जैन तत्त्वोंको बुद्धिग्राह्य बनानेमें बहुत ही सरलता होगी।

अभ्यास एवं समझशक्तिकी दृष्टिसे तथा रुचिपुष्टिकी दृष्टिसे मेरे मतानुसार इन लेखोंमें प्रथम स्थान "भारतीय दर्शनों में जैन दर्शनका स्थान" शीर्षक लेख को मिलना चाहिये।* द्वितीय स्थान "जैन दृष्टिमें

---

* उस समय अन्य लेख तैयार न होनेसे, पण्डितजीको केवल चार लेख ही भेजे गए थे। कर्मवाद, भगवान पार्श्वनाथ तथा महामेघवाहन खारवेल नामक लेख बादमें सम्मिलित किये गए हैं।

—गुजराती अनुवादक श्री सुशील।

ईश्वर" इस लेखका है। "जैन विज्ञान" नामक लेखको तीसरा और "जीव" शीर्षक लेखको चतुर्थ स्थान दिया जाना चाहिये। भारतीय दर्शनका कौनसा स्थान है, यह बात जैन दर्शनके अभ्यासीको सर्वप्रथम जाननी चाहिये। ईश्वरका प्रश्न जिस प्रकार व्यापक है, उसी प्रकार रोचक भी है। जैन दर्शनका स्थान ज्ञात होनेके पश्चात् इस प्रश्नके सम्बन्धमें जैन मत जाननेकी आवश्यकता है। तत्पश्चात् समस्त जैन तत्त्वोंका प्रश्न आता है, जिनका स्पष्टीकरण "जैन विज्ञान" लेखमें हो जाता है। "जीव" विषयक जैन मान्यता जाननेकी इच्छा शायद इससे पूर्व भी उत्पन्न हो, परन्तु इस मान्यताकी चर्चा इतनी सूक्ष्म रीतिसे तथा न्यायकी परिभाषामें की है कि, इस लेखको अन्तमें रखनेसे साधारण पाठकोंकी रुचि और समझशक्तिका विकास — जो प्रथमके तीन लेखोंके पढनेसे हुवा होगा — चौथे लेखको समझनेमें सहायता देगा एवं तर्ककी सूक्ष्मता तथा न्यायकी परिभाषा साधारण श्रावकके उत्साहको मन्द नहीं करेगी।

यहां लेख तो केवल चार ही है, और यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे सब पूर्ण ही है, तथापि साधारणतः यह कहा जा सकता है कि, जैन दर्शन संबन्धी समस्त तात्त्विक प्रश्नोंना इनमें समावेश है। ऐसा मालूम होता है कि ये लेख मानों वाचक उमास्वातिके 'तत्त्वार्थ' और उसकी टीकाओंका तुलनात्मक समर्थ नही है। इन लेखोंसे तत्त्वार्थगत समस्त मुख्य विषयोंका आधुनिक शैलीसे स्पष्टीकरण हो जाता है। इन्हे पढनेके पश्चात् कोई जैनेतर भी 'तत्त्वार्थ' पढे तो उसे उसके समझनेमें बहुत सुविधा होगी।

इन लेखोंमें, प्राचीन ग्रीक तत्त्वचिंतकोंसे लेकर मध्य कालीन एवं अर्वाचीन युरोपीय तत्त्वचिंतकों तकके, जैन दर्शनके मुद्दोंसे प्रतिकूल. तथा अनुकूल विचार आ जाते है। अत एव पश्चिमी तत्त्वज्ञानसे परिचित जिज्ञासु पाठकोंको जैन दर्शन पढनेकी विशेष रुचि उत्पन्न हो तथा वह भली भांति समझमें आजाय ऐसी इन लेखोंकी योजना है। इसके अतिरिक्त जो केवल जैन दर्शनके तत्त्वसे परिचित है और इस विषयमें पश्चिमी विचारकोंके मतसे अनभिज्ञ हैं उनको भी जैन तत्त्वका व्यापक मर्म समझानेकी व्यवस्था इन लेखोंमें मौजूद है।

इन लेखोंमें जैन साहित्यके आगमिक और तार्किक दोनों प्रकारके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका तात्त्विक निरूपण आ जाता है। फिर चाहे वह निरूपण दिगंबरीय ग्रन्थोंके आधार पर हो या श्वेताम्बरीय ग्रंथोंके आधार पर, अथवा उभय पक्षके ग्रन्थोंके आधार पर। ऐसा होने पर भी इन लेखोंसे यह प्रतीत होता है कि लेखकने प्रधानतः जैन तार्किक ग्रन्थों (यथा, 'रत्नाकरावतारिका,' प्रमेयकमलमार्तंड', 'स्याद्वादमंजरी' आदि)का अध्ययन किया है। अत एव आजकल जो जैन, जैनेतर विद्यार्थी जैन तर्कशास्त्रका अध्ययन कर रहे है अथवा जिन्होंने जैन तर्कशास्त्रकी परीक्षा दी है, उन सबके लिये इन लेखोंका पठन अनेक दृष्टिओंसे उपयोगी सिद्ध होगा। ये लेख शुष्क पण्डितोंको यह सिखलाएंगे कि, संस्कृत भाषामें तर्कशैलीसे विवेचित मुद्दे और तत्सम्बन्धी विवरण सरलतापूर्वक लोकभाषामें किस प्रकार उतारे जा सकते है, एवं जटिल कहलानेवाले शास्त्रीय ज्ञानको कुछ सरल किस प्रकार किया जा सकता है।

इन चारों लेखोंको पढ़ते हुवे मुझे, 'कितनेक मुद्दों, कितनीक व्याख्याओं और कई तुलनाओंके सम्बन्धमें अपने पुराने हिन्दी और गुजराती लेखोका स्मरण हो आया। कर्मग्रन्थोकी वे प्रस्तावनाएं, 'पुरातत्त्व' और 'जैन साहित्य संशोधक'के वे लेख, और 'तत्त्वार्थ'का वह विवेचन आदि सबकी स्मृति मेरे चित्तमें ताजी हो गई। और ऐसा प्रतीत होने लगा कि, प्रस्तुत लेखोंके पाठक यदि वे लेख ध्यानपूर्वक समझकर पढ़े तो उनकी समझशक्ति और उनके ज्ञानमें वृद्धि होनेके अतिरिक्त निश्चित प्रकारकी दृढता भी उत्पन्न होगी। इसी तरह मुझे यह भी प्रतीत हुवा कि, जिन्होंने उन लेखोंको पढा है, वे यदि इन्हे पढ़ेंगे तो उनकी उन लेखोंके सम्बन्धकी प्रतीति अधिक दृढ और स्पष्ट होगी।

प्रथम अलग अलग प्रकाशित तथा अप्रकाशित इन अनुवादित लेखोका संग्रह एक पुस्तकमें हुआ है वह अनेक दृष्टियोंसे विशेष उपयोगी सिद्ध होगा। कोलेजोमें शिक्षा पानेवाले विद्यार्थियों तथा उन्हींके समान योग्यता और जिज्ञासा रखनेवाले अन्य पाठकोंके लिए —चाहे वे जैन हों या जैनेतर—यह संग्रह बहुत उपयोगी है। इसी प्रकार स्कूलके बड़ी अवस्थाके एवं थोडी पक्व बुद्धिके विद्यार्थियोंके लिए एवं विशेषतः स्कूलोंमें धार्मिक और दार्शनिक शिक्षा देनेवाले शिक्षकोंके लिए भी यह संग्रह बहुत मूल्यवान है। इसके: अतिरिक्त मात्र प्राचीन और एकदेशीय पद्धतिसे शिक्षा देनेवाली जैन पाठशालाओंमें पढ़नेवाले अधिकारी स्त्रीपुरुषोंके लिए, और विशेषतः जो ऐसी पाठशालाओंमें शिक्षकका कार्य करते है परन्तु जिन्हे जैन शास्त्रका विशाल परिचय नहीं है और जो जैन दृष्टिकी व्यापकतासे अनभिज्ञ है उनके लिए

यह संग्रह आशीर्वाद रूप हो सके ऐसा है। जो लोग जैन अथवा जैनेतर छात्रालयोंमें अथवा शिक्षामंदिरोंमें जैन दर्शनका संक्षिप्त तथापि विशिष्ट परिचय पहुंचाना चाहते है उनके लिये भी यह अनुवादसंग्रह बड़े कामका है।

हिन्दी संस्करणके समय—

जब गुजराती प्रथम संस्करण छपा तब मेरे सामने केवल चार निबंध उपस्थित थे अत एव बाकीके पांच निबंधोंको मैं उस समय देख सका न था। वे पांच निबंध इस समय देखनेमें आये। इस तरह इस समय प्रस्तुत हिन्दी आवृत्तिमें समावेश किये गये सब निबंधोंका अवलोकन मै कर सका हूं।

गुजराती निदर्शनमें चार निबंधोंके बारेमें मैंने अपना थोडासा विचार प्रकट किया था। अभी पांच निबंधोंके बारेमें कुछ वक्तव्य प्राप्त है।

पुस्तक गत तीसरा और आठवां ये दो निबंध कर्मविषयक है। 'जैन दर्शनमें कर्मवाद' और 'जैनोंका कर्मवाद' शीर्षकसे लेखकने कर्मतत्त्वकी चर्चा की है। पहिले निबंधमें कर्मतत्त्वकी सामान्य चर्चा है, जो दर्शनान्तरके कर्मविचारके साथ जैन दर्शनके कर्मविचारको आंशिक तुलनारूप है। मेरी रायमें लेखक इस जगह दर्शनान्तरके कर्मविषयक विचारोंको विशेष स्पष्टता व विस्तारके साथ दरसाते तो निबंधके अभ्यासीके लिये विचारकी यथावत् सामग्री प्रस्तुत होती। लेखकने गौतम-प्रतिपादित न्यायदर्शन-सम्मत कर्मका विचार जैसा दरसाया है वैसा वे पातंजल योगशास्त्रके आधार पर सांख्य-योग-सम्मत कर्मविचारका निरूपण कर सकते थे। एक तरहसे न्यायशास्त्रके कर्मविचारकी अपेक्षा

योगशास्त्रगत कर्मविचार सविशेष विशद एवं सविशेष वर्गीकृत है। खास कर जैन परम्परा सम्मत सत्ता, उदय, उदीरणा, क्षयोपशम, क्षय आदि कार्मिक अवस्थाओंके साथ योगशास्त्रीय वर्णनका इतना अधिक साम्य है कि देखकर अचरज होता है। यही कारण है कि, उपाध्याय यशोविजयजीने योगशास्त्रके उन सूत्रोंकी संक्षेपमें पर तुलनात्मक मार्मिक व्याख्या संस्कृतमें की है। अभ्यासीगण उपाध्यायजीकी इस व्याख्याको प्रस्तुत निबंध पढते समय देखेंगे तो विषयकी पूर्ति कुछ तो हो सकेगी। उपाध्यायजीकी वह वृत्ति हिन्दी सार सहित छपी भी है।

लेखकने पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसामें कर्मतत्त्वकी खास चर्चा न होनेकी कुछ सूचना की है। एक तरहसे उनका कथन अंशतः ठीक कहा जा सकता है, पर वास्तवमें बात दूसरी है। मीमांसामें अपूर्वका — यज्ञ आदि जन्य अपूर्वका — उसके गौण मुख्यत्वका, फलाफलका और उत्सर्ग-अपवाद आदिका जो विचार है वह दार्शनिक अभ्यासीके लिये उपेक्षणीय नहीं। उत्तर मीमांसामे आत्मविचारका प्राधान्य है सही, पर अविद्यातत्त्वका तथा मूलाविद्या तथा तुलाविद्याका या मूलाज्ञान और उसकी अवस्थाओंका जो विचार है अथवा यों कहिये कि मायाकी आवरणशक्ति तथा विक्षेपशक्तिका जो विचार है वह सामान्य नहीं। वह हमें जैन परम्परावर्णित दर्शनमोह और ज्ञानावरण जैसे भावकर्मके विचारके नजदीक पहुंचाता है।

लेखकने बौद्ध परम्परा-सम्मत कर्मविचारका निर्देश किया है, पर वह अधिक विस्तारकी अपेक्षा रखता है। एक तरहसे बौद्ध

---

१. पातञ्जलयोगसूत्र पाद २, सूत्र ३से आगे, सभाष्य।

'अभिधर्म' सारा कर्मतत्त्वके विचारसे ही भरा पडा है, जैसा कि जैन कर्म-शास्त्र। भले ही दोनोंकी शैली भिन्न हो, पर गर्भमें जो ऐक्य व समानता है वह दार्शनिक व्यक्तिके लिये खास जिज्ञास्य है। इस विषयमें टि. डब्ल्यु. राइस डेविड्स[2] तथा जर्मन भिक्षु गोविन्दकी पुस्तके[3] बहुत कुछ उपयोगी है।

सामान्य रूपसे सभी यही मानते व कहते है कि. बौद्ध दर्शन निरात्मवादी है। अन्य दर्शनसम्मत आत्मस्वरूप न माननेके कारण कोई एक दर्शन निरात्मवादी कहा जाय तो शायद सभी दर्शन निरात्मवादी सिद्ध होंगे। देखना तो यह चाहिये कि, बौद्ध दर्शन आत्माका स्वरूप किस प्रकारसे किन शब्दोंमें कैसा मानता है। अगर तथागत बुद्ध पुनर्जन्म, निर्वाणका मार्ग इत्यादि तत्त्व भारपूर्वक प्रतिपादित करता है तो वह निरात्मवादी कैसे? असलमें बुद्धने 'आत्मा' शब्दके स्थानमें प्रधानतया 'चित्त'—जो एक चेतन शब्दका 'चित्' धातुमूलक दूसरा रूप है—उसका प्रयोग किया है और चित्तकी व्याख्या उसने तथा उसके शिष्योने ऐसी की है, जिससे कर्म, पुनर्जन्म आदि बातोंका मेल बैठ सके। बुद्ध उच्छेदवादी चार्वाकका विरोधी है। यही कारण है कि धर्मकीर्तिने 'प्रमाणवार्तिक'में शुरू ही में चार्वाक मतका निरास किया है, जैसा कि आचार्य हरिभद्रने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय'में। मै समझता हूं कि, बौद्ध दर्शनके बारेमें ऊपर ऊपरकी स्थूल जानकारीकी अपेक्षा उसके सम्बन्धमें सहानुभूतिपूर्वक गहरी जानकारी प्राप्त करनी

---

२. ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ओफ रिलिजियन (इन्डियन बुद्धिझम)।

३ धी साईकोलोजिकल एटिटयूड ऑफ अभिधर्म।

चाहिये, तभी हम विशेष सत्यके नजदीक पहुंच सकते है। बौद्ध कर्मवादमें क्लेशावरण और ज्ञेयावरणका खासा वर्णन है, जो अनुक्रमसे जैनसम्मत दर्शनमोह और ज्ञानावरणके समान है। जैनसम्मत गुणस्थान, जो कि कर्मवादमूलक आध्यात्मिक उत्क्रान्तिक्रमका एक सुन्दर निरूपण है, वैसा ही आध्यात्मिक निरूपण बौद्ध परम्परामें भी सोतापत्ति, सकदागामी आदि लोकोत्तर मार्गरूपमें है[४]।

क्रिश्च्यानिटी और इस्लाममें जो करुणावाद (Doctrine of Grace) और प्रायश्चित्तवाद (Doctrine of Vicarious Atonement) प्रसिद्ध है वह भारतीय परम्परामें बहुत पुराने समयसे सुविदित एवं प्रचलित है। उपनिषदोंमें ईश्वरानुग्रहकी सूचना[५] है। इसी पर तो वल्लभका पुष्टिमार्ग अवलम्बित है। और पुराना सात्वत–भागवत–मार्ग भी उसी तत्त्वको मानता आया है। प्रायश्चित्त पर तो जैन, बौद्ध आदि सभी श्रमणमार्गी भार देते आये हैं।

यहां इसका इतना विस्तार इस लिये किया है कि प्रस्तुत निबंधके अभ्यासी यथासम्भव विशेष गहराईकी ओर जायं।

कर्मतत्त्वसे सम्बद्ध आठवा निबंध केवल जैन पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्या, जैन दर्शनका कर्मविषयक वर्गीकरण इत्यादि परंपरागत वर्णनका

---

४. श्रीधर्मानन्द कौशाम्बीकृत 'बुद्ध धर्म आणि संघ'; 'समाधिमार्ग' आदि।

५. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
—कठोपनिषद् १–२–२२।

प्रकटीकरणमात्र है, जो साम्प्रदायिक परिभाषाबद्ध कर्मविचारके अभ्यासियोंके लिये खास उपयोगी है।

प्रस्तुत पुस्तकमें छठा निबंध भगवान् पार्श्वनाथसे सम्बद्ध है और सातवां महाराजा खारवेलसे। यों तो भगवान् पार्श्वनाथ केवल जैन परम्परामें ही नहीं बल्कि सामान्य रूपसे भारतीय जनतामें सुविदित हैं। भारतमें कहीं भी जाओ—खासकर पूर्व और दक्षिणादि देशोंमें जाओ—तो लोग जैन परम्पराको पार्श्वनाथके नामसे पहिचानते है। जैन तीर्थंकरोंमेंसे जितनी ख्याति भगवान् पार्श्वनाथकी है उतनी जनसाधारणमें अन्य तीर्थंकरोंकी—यहां तक कि—भगवान महावीर तककी भी, नहीं है। वैदिक और पौराणिक परम्परामें जैसे राम और कृष्ण, या ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर वैसे ही जैन परम्परामें भगवान् पार्श्वनाथ। उनके नामसे विश्रुत पार्श्वनाथ पहाड—सम्मेतशिखर आदि जैसे तीर्थ भी सर्वविदित हैं। बनारस अगर कभी जैन परम्पराका अन्यतम केन्द्र रहा हो तो वह भी सम्भवतः भगवान् पार्श्वनाथके कारण ही। इस स्थितिमें भगवान् पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकताके बारेमें सन्देहको अवकाश नहीं है, फिर भी जो वस्तु जैनोंके लिये स्वतःसिद्ध है वह जैनेतरोंके लिये—खासकर पाश्चात्य देशवासियोंके लिये—वैसी हो नहीं सकती। अत एव शुरु शुरुमें अनेक पाश्चात्य विद्वान् भगवान् महावीरसे पहिले जैन परम्पराका अस्तित्व माननेमें हिचकिचाते रहे। पर जब प्रो. याकोबीने बौद्ध और जैन ग्रन्थोंकी तुलनाके आधार पर बतलाया कि, पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति हैं तब सब लोग एक स्वरसे उस तथ्यको मानने लगे। पार्श्वनाथको ऐतिहासिक साबित करनेकी सामग्री तो

भारतीय वाङ्मयमें — खास कर जैन बौद्ध ग्रन्थोंमें — पहिलेहीसे मौजूद थी। इस वाङ्मयके अभ्यासी भी इस देशमें पहिलेहीसे रहे है। पर उस सामग्रीका ऐतिहासिक दृष्टिसे उपयोग करके एक सबल विधान करनेवाला आखिरको योरपमें ही पैदा हुआ। और आज हम खुद जैन साधु गृहस्थ पण्डित आदि सब याकोबीके नामका उपयोग करके पार्श्वनाथके ऐतिहासिकत्वका समर्थन करते है। यह वस्तु तत्त्वतः अनुचित नहीं, पर इसके पिछे जो हमारी मनोदशा है वह अवश्य चिन्तनीय है।

आज भी ऐतिहासिक ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जिनकी गवेषणा करना हमारा ही कर्तव्य है। पर हमारी मनोदशा इतनी अधिक पराधीन हुई है कि, हम खुद कुछ कर नहीं पाते। भगवान् पार्श्वनाथके वर्तमान जीवनका जहां तक सम्बन्ध है वहां तक भी हमें ऐतिहासिक दृष्टिसे उस पर संशोधन करना होगा। व्यक्तित्वका इतिहास एक बात है और जीवन सम्बन्धी हकीकतोंका इतिहास दूसरी बात है। यदि भगवान् पार्श्वनाथका व्यक्तित्व इतिहाससिद्ध है तो उनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली सेंकडों बातोंमेंसे हो सके इतनी अधिक बातोंका ऐतिहासिक संशोधन भी हमें करना होगा। उनका संघ कैसा था? वह केवल नवनिर्मित था या पूर्व परम्पराके आधारसे विकसित हुआ था? उनका विहारक्षेत्र तथा धर्मप्रचारक्षेत्र कितना था और कहां कहां था? उनके समयका निर्ग्रन्थ वाङ्मय था तो कैसा और उसका प्रर्यवसान क्या हुआ? कौन कौनसे विशिष्ट राजे, विद्वान् या गृहपति उनकी परम्परामें हुए?— जिन्होंने पार्श्वनाथके शासनको प्रभावक बनानेमें योग दिया। खास

पार्श्वपरम्पराके आचार कैसे रहे ? उपलब्ध आगमोके किन स्तरोमें पार्श्वनाथीय परम्पराकी कैसे कैसे झांकी होती है ? उस समय तीर्थ चैत्य आदिकी स्थिति क्या थी ? पार्श्वनाथ पहाडकी इतनी ख्याति कबसे और क्यो ? तथागत बुद्धके साथ पार्श्वपरम्पराका कोई सम्बन्ध है ? है तो क्या और कैसा ? बौद्ध पिटकोमें बार बार 'नातपुत्र'का निर्देश आने पर भी जब निर्ग्रन्थ यामों (महाव्रतों) का वर्णन आता है तब महावीरके पंच महाव्रतोंके स्थानमें चार महाव्रतोंका निर्देश क्यों ?–इत्यादि अनेक प्रश्न ऐसे है जिनके बारेमे सशोधन करने पर आज भी अनेक तथ्य ज्ञात हो सकते है। मेरी रायमें आजकलके अभ्यासकी दृष्टिसे इस ओर हम जैन लोगोंका ही ध्यान मुख्यतया जाना चाहिये।

लेखकने पार्श्वनाथके पूर्वजन्मोंकी पौराणिक कथा भी निबन्धमें दी है। इतने अधिक पूर्वजन्मोंकी कथाके इतिहासका पता तो कभी संभव ही नहीं, तो भी इस पौराणिक कथाके अभ्यासको हम अनेक तरहसे रुचिकर बना सकते हैं। पहिले तो यह कि श्वेताम्बर दिगम्बर साहित्यमें जो पुराना कथाभाग हो उसकी तुलना की जाय और खोज की जाय कि, उस पौराणिक कथाका प्राचीन आधार क्या रहा ? क्या दोनों परम्पराओने किसी एक सोतमेंसे अपने अपने पुराण लिखे ? या दोनों परम्पराका सोत कोई जुदा था ? दोनोंमे अन्तर है तो किन किन बातोंमें ? तथा पार्श्वनाथके चरित्र विषयक जो अनेक ग्रन्थ आगे रचे गये है उनमें क्या क्या परिवर्तन होता गया है ? और किस किस दृष्टिसे ? एवं पार्श्वनाथके पौराणिक जीवन और वर्तमान जीवनके किन किन अंगो पर जैनेतर पुराणवर्णनोंकी छाप है ?–ये सब विषय तुलनात्मक दृष्टिसे

पढे जायं तो सचमुच, वह अभ्यास रुचिकर हो सकता है। श्रीयुत् भट्टाचार्यजीने तो केवल उपक्रम करके हम लोगोंको सचेत भर किया है।

सातवां निबन्ध भारतीय इतिहास – खास कर जैन परंपराके प्राचीन इतिहास – की दृष्टिसे बहुत महत्त्वका है। यह ठीक है कि, महाराजा खारवेलका नाम दिगम्बर श्वेताम्बर परम्पराके उपलब्ध साहित्यमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। यह भी ठीक है कि, खारवेलके शिलालेखकी उपलब्धिके पहिले खारवेलका नाम न जैन परंपराको विदित था और न अन्य किसी परम्पराको। तो भी उस अज्ञात लेखके ज्ञात होने पर तथा अनेक विद्वानोंके द्वारा उसके अर्थ निकाले जाने पर यह तो निर्विवाद ज्ञात हो ही जाता है कि महाराजा खारवेल जैन परम्पराके अनुगामी और समर्थक रहे है।

भगवान् महावीरके समयमें चेटक, श्रेणिक, कोणिक, शतानिक आदि राजे थे, जो भगवान् महावीरके पास आते जाते भी थे। इसी तरह चन्द्रगुप्त मौर्य और सम्प्रतिका भी जैन परम्परासे संबंध रहा। उत्तर कालमें शक साही, विक्रमादित्य, आमराज, सिद्धराज, कुमारपाल, महम्मद तुगलख, अकबर आदि अनेक राज्यसत्ताधारी ऐसे हुए है जिनका जैन संघ या जैन विद्वानके साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध रहा। इसी तरह दक्षिणमें गंग, कदम्ब, चोल, पाण्ड्य, राष्ट्रकूट आदि वंशके अनेक राजे तथा अन्य सत्ताधारी ऐसे हुए जिनका जैन परम्परासे कुछ न कुछ महत्त्वका सम्बन्ध रहा[६]। उन सबका थोडा बहुत निर्देश जैन साहित्यमें, शिला-

६. 'मिडिवल जनिझम'—डॉ. सालेटोर।
'जैनिझम एण्ड कर्नाटक कल्चर'—शर्मा।

लेखोंमें, प्रशस्तिओंमें किसी न किसी प्रकारसे मिलता है, तव प्रश्न होता है कि, खारवेल जैसे समर्थ अनुयायी और प्रभावशाली नरपतिका निर्देश कहीं भी जैन साहित्यमें क्यो नहीं ?

इस प्रश्नका उत्तर यथार्थ रूपमें पाना सरल नहीं, तो भी जैन परंपराके भिन्न भिन्न समयभावी तथा समकालीन गण–गच्छोंकी एवं फिरकोंकी प्रकृतिका अवलोकन हमें इस नतीजे पर पहुंचाता है कि, महाराज खारवेल किसी ऐसे जैन फिरकेके विशेष परिचयमें आये, जिसका सम्बन्ध तत्कालीन और उत्तरकालीन दिगंवर श्वेताम्वर जैन फिरकोंके साथ उदासीनसा रहा। अगर महाराज खारवेलने कलिंगमें जैन परम्पराको प्रोत्साहन दिया और उनके पहेलेसे कलिंगमें जैन परम्पराके अस्तित्वका प्रमाण मिलता है, और संभव भी है, तो मानना होगा कि, कलिंगमें वर्तमान तत्कालीन जैन फिरका कोई खास था, जो उस समयकी अचेल–सचेल परंपरासे किसीं अंशमें भिन्न था। भगवती–व्याख्याप्रज्ञप्तिमें पार्श्वापत्यिक अनेक साधु-श्रावकोंका वर्णन है, जो काल्पनिक नहीं। उन पार्श्वापत्यिकोंमेंसे ऐसे अनेक थे जो अन्त तक भगवान् महावीरके शासनमें सम्मिलित न हुए, व एकमात्र भगवान् पार्श्वनाथको ही मुख्यतया मानते रहे। मानभूम आदि जिल्लोंमें सराक जातिका जो अवशेष है और उसमें जो चिह्न अभी मिलते है उनसे भी उक्त संकेतका समर्थन होता है। महाराज खारवेलके खवाली गुफामें सर्पफणाकी आकृति है, जो भगवान् पार्श्वनाथका एक परिचायक चिह्न है। ऐसी बिखरी हुई असंकलित वातोंका विचार करते हुए कल्पना यही होती है कि, कलिंगमे पार्श्वापत्यिकोंकी एक

कट्टर जैन परम्परा पहिलेसे अवश्य चली आती होगी, जिसके साथ महाराज खारवेलका खास सम्बन्ध रहा। उस परम्पराका जैन साहित्य कोई जुदा अवशिष्ट न रहा। जो कुछ नाश होनेसे बच गया वह क्रमशः श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्यमें घुल-मिल गया। और महाराज खारवेलका निर्देशक कोई अंश साहित्यादि रूपमें रहा होगा तो वह उस फिरकेके साथ ही नामशेष हो गया।

जो कुछ हो, पर इतना अवश्य मानना होगा कि, अंग मगध जैसे केन्द्रस्थानोंसे दक्षिणकी ओर जैन परम्पराके फैलनेके साथ ही बीचमें कलिंग एक पहिलेसे खासा जैन केन्द्र बना होगा। मै समझता हूं, इस दिशामें बहुत सावधानीसे खोज की जाय तो कलिंग और उसके आसपासके सीमाप्रदेशोंमेंसे इस टूटती कडीको जोडनेवाली बहुतकुछ सामग्री मिल सकती है। प्रस्तुत पुस्तकमें खारवेलके निबन्धकी सार्थकता उसी ओर संशोधकोंका ध्यान खींचनेमें है।

अन्तिम निबंध धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक दो द्रव्य-तत्त्वसे सम्बन्ध रखता है। श्रीयुत भट्टाचार्यजीने इसमें निर्दिष्ट दोनो द्रव्योंके अस्तित्वका समर्थन मुख्यतया हेतुवाद—युक्तिवासे किया है। बीच बीचमें उन्होंने शास्त्रीय वाक्यका अवलंबन अवश्य लिया है, पर मुख्य झुकाव हेतुवादकी ओर है। हमें ध्यानमें रखना चाहिये कि, कोई भी दर्शन अकेले आगमवाद या अकेले तर्कवाद पर न चला है, न चल सकता है। तथागत बुद्धने विना परीक्षा किये अपने वचन तकको न माननेकी बात शिष्योंसे कही थी। पर आखिरको बौद्ध दर्शन भी पिटकशास्त्राव-लम्बी हो ही गया। जैन दर्शन तो पहिले ही से आप्तवचनको अन्तिम

प्रमाण मानता आया है। पर अनेक बातें ऐसी होती हैं जो वस्तुतः आगमगम्य होने पर भी हेतुवादके द्वारा समर्थन विना किये श्रोताओंको प्रतीतिकर नहीं होतीं। अत एव श्रीयुत भट्टाचार्यजीने भी इस निबन्धमें हेतुवादका प्रश्रय लिया है और यथासम्भव उन्होंने एतद्देशीय और देशान्तरीय चिन्तनधाराओंका तुलनात्मक उपयोग करके धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय तत्त्वोंकी प्रतीतिकर चर्चा की है, जिसमें वे बहुत कुछ सफल हुए है।

श्रीयुत भट्टाचार्यजीने जिन्दगी भर जैन साहित्यका परिशीलन मुख्यतया अपने आप किया है। उनके परिशीलनका फल आज अनेक रूपोंमें जैन जगतके सामने आ रहा है। हमें उनके इस सतत विद्यायोगकी सराहना ही नहीं बल्कि उसका अनुकरण भी करना चाहिये। अगर जैन परंपरा स्वाध्याय तथा विद्याको सुनिश्चित तप समझे तो, मेरी रायमें, इस पुस्तकका प्रकाशन विशेष सार्थक सिद्ध होगा।

श्रीयुत भट्टाचार्यजीने बंगाली और अंग्रेजीमें जैन परम्पराके अनेक विषयों पर बहुत कुछ लिखा है। उनके सारे लेखोंका संग्रह करके उनमेंसे जो जो सर्वसाधारणगम्य करने जैसा जचे उसको हिन्दी या गुजरातीमें उतारना यह जैन संस्थाओंका सहज कर्तव्य है। इससे एक लिखा हुआ तैयार साहित्य नई पीढीको सुलभ होगा और जैन साहित्य प्रकाशक संस्थाओंके लिये एक उपयोगी प्रवृत्ति प्राप्त होगी।

अभी अभी भट्टाचार्यजीका अनेकान्त विषयक अंग्रेजी इनामी निबंध गुजरातीमें अनुवादित होकर भावनगरकी श्री जैन आत्मानन्द सभाकी ओरसे प्रसिद्ध हुआ है, जो अभ्यासियोंके लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

जैन परम्पराके मौजूदा सब फिरके किसी न किसी प्रकारसे जैन साहित्य–प्रकाशनके लिये दत्तचित्त देखे जाते है। इस कार्यके लिये सब फिरकोंमें छोटी बडी प्रकाशक संस्थाएं भी हे। उनके पास आर्थिक साधन भी है। संस्थाओंके साथ थोडे बहुत विद्वान साधुओंका व पण्डितोंका सम्बन्ध भी देखा जाता है। सब संस्थाएं नवयुग योग्य नवीन साहित्यकी हिमायत भी करती है। वस्तुतः आधुनिक शिक्षण-संस्थाओंमें प्रवर्तमान पाश्चात्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण व ऐतिहासिक दृष्टिकोणका विचार करते हुए यह स्पष्ट जान पडता है कि, जैन साहित्यके प्रकाशनकी तथा निर्माणकी नवीनता अनिवार्य रूपसे आवश्यक है।

नवीनता अनेक दृष्टिसे, अनेक विषयोंको लेकर लाई जा सकती है, जो सत्यसे दूर भी न हो और वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक बुद्धिको संतुष्ट भी कर सके। इस दृष्टिका समादर विना किये अब नयी जिज्ञासु पीढीका मन हम जीत नहीं सकते। अत एव हमारा कर्तव्य यह भी रहना चाहिये कि, केवल अमूर्त–अदृश्य और तात्त्विक वातोंकी – इने गिने लोगोंको स्पर्श करनेवाली वातोंकी – चर्चामें ही हमारा साहित्य फंसा न रहे। इसके सिवाय भी जैन परम्परा पर प्रकाश डालनेवाली अनेक वातें ऐसी है जो बहुत रुचिकर भी हैं और जिनकी चर्चा अभी तक ठीक ठीक हो नहीं पाई है, बल्कि यह कहना चाहिये कि भारतीय इतिहासके नकशेका एक कोना ही जिनकी चर्चा व गवेषणाके सिवाय अधुरा रहेगा।

ऐसे विषयोंका संकेतभर सूचन करना हो तो निम्न लिखे अनुसार है:—

१. भगवान् महावीरके पहेलेका पौराणिक, अर्धपौराणिक और ऐतिहासिक जैन स्रोत, जिसकी आधुनिक शैलीसे शोध करना।

२. अंग–मगध जैसे केन्द्रस्थानसे जुदो जुदी दिशाओंमें जैन परम्पराका कैसे कैसे और कब कब फैलाव हुआ और नये नये क्षेत्रोंमें जाकर उसने क्या क्या काम किया? अभी उन क्षेत्रोंमें जैन परम्पराका अस्तित्व किस किस रूपमें है? बीच बीचमें चढाव–उतार कैसे कैसे और क्यों आये? यह सब ऐतिहासिक दृष्टिसे लिखना।

३. मूर्तिविद्यामें जैन परम्पराका क्या हिस्सा है? उसमें उसने क्या विकास किया? इत्यादि।

४. चित्र, स्थापत्य और अन्य शिल्पका जैन परम्परामें प्रवेश कब, कैसे और कहां कहां हुआ? इसमें उसने क्या अर्पण किया? इत्यादि।

५. देशभरमें ग्रन्थोंकी रक्षाकी दृष्टिसे जैन परम्पराकी क्या देन है? और जैन परम्पराश्रित भाण्डारोंका क्या इतिहास है?

६. पहिलेसे आजतकके विद्यमान या लुप्त साधुओंके गण, गच्छ, कुल आदिका सपरिचय वर्णन।

७. अभी तक जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी, इटालियन आदि भाषाओंमें जो कुछ जैन परम्परा-संबद्ध लिखा गया हो उस सबका देशभाषामें व्यवस्थित सकलन।

ऊपर निर्दिष्ट विषय केवल सुझावभरके लिये है। पर इतना अवस्य कर्तव्य है कि, जैन संस्थाएं अब नई दृष्टि और नई स्फूर्तिसे कार्य करने लगें।

सरित्कुञ्ज, एलिसब्रीज
अहमदावाद ९, ता ३१–१–५२ (वसंतपञ्चमी) } —सुखलाल

जिनवाणी

भारतीय दर्शनोंमें

जैन दर्शनका स्थान

भूतकालके दुर्भेद्य अंधकारमें असंख्य वस्तुएं लुप्त हो चुकी हैं, उन्हें प्रकाशमें लानेके लिये अन्वेषक अथवा इतिहास-प्रेमी उत्साह और लगनसे जो परिश्रम कर रहे हैं वह वस्तुतः प्रशंसनीय है, परन्तु जब वे समस्त घटनाओंको—सामाजिक प्रसंगोंको विक्रमपूर्वकी अथवा पश्चातकी किसी एक शताब्दीमे रखनेका आग्रह कर बैठते है तो पथच्युत हो जाते हैं। वैदिक क्रियाकांडका समय निश्चित करनेमे भी वे महानुभाव इसी प्रकार आभ्यन्तरिक वादविवादमें फंस गये और ठीक ठीक काल-निर्णय न कर सके। वैदिक कर्मकाण्ड और बहुदेववादके साथ साथ ही अध्यात्मवाद और तत्वविचारका प्रादुर्भाव हुवा प्रतीत होता है। परन्तु कितने ही विद्वानोंका मत है कि अध्यात्मवाद और तत्वविद्या उसके बादके हैं; तत्वविद्या और कर्मकाण्ड साथ साथ रह ही नहीं सकते, प्रथम कर्मकाण्ड होगा और फिर किसी समय—किसी शुभ मुहूर्तमें तत्वविचारका जन्म हुवा होगा। यह युक्तिवाद ठीक नहीं है। जैनधर्म और बौद्धधर्ममें पुराना कौन है? इस विषयमें बहुत अधिक वादविवाद हो चुका है। किसीने जैनधर्मको बौद्धधर्मकी शाखा माना, तो किसीने

उसे बौद्धधर्मसे भी प्राचीन मान लिया। इस सब वादानुवादमें यद्यपि एक प्रकारकी जिज्ञासावृत्ति — सत्य वस्तु खोज निकालनेकी इच्छा — अवश्य पाई जाती है और वह आदरणीय है, परन्तु इस प्रकारका वादविवाद कर्णमनोहर होने पर भी मेरी दृष्टिमें अधिक मूल्यवान नहीं है। उसकी आधारशिला ही जितनी होनी चाहिए उतनी मजबूत नहीं होती है।

यदि हम मानवीप्रकृति पर विचार करे तो हमे स्वीकार करना पड़ेगा कि चिन्तन और मनन मनुष्य-प्रकृतिका एक विशिष्ट लक्षण है। अर्थात् दीर्घ कालसे मानवसमाजमे — मानवहृदयमे — अध्यात्म-चिन्तन और तत्वविचारकी धाराएं प्रवाहित है। हम जिस कालमें मनुष्यसमाजको अर्थहीन कर्मकाण्डके भारसे सर्वथा दबा हुवा मानते हैं उस समय — प्रारम्भिक अवस्थामे — भी कुछ न कुछ आध्यात्मिकता तो अवश्य ही होगी। वास्तवमें सामाजिक बाल्यावस्थामे जो गुप्त मूढता होती है उसके कर्मकाण्ड आध्यात्मिकताकी भूमिकास्वरूप होते है। वह आध्यात्मिकता यथावत् विकसित नहीं होती, तथापि समाजकी प्रत्येक अवस्थामे कुछ न कुछ विचारविकास, तत्कालीन नीति-पद्धतिमें क्रान्ति उत्पन्न करनेकी मनोभावना और इस प्रकार आदर्शको क्रमशः उच्चतम बनानेकी आकाक्षा अहर्निश जागृत रहती है। यही कारण है कि किसी भी दर्शनकी जन्मतिथिका निर्णय करना असम्भव हो जाता है। भिन्न-भिन्न आचार्योंद्वारा निर्मित दर्शनोका सूक्ष्म बीज उनसे पूर्व भी विद्यमान रहता है। बौद्ध मतका प्रचार बुद्ध भगवानने किया है और जैन मतका प्रथम श्री वर्धमान महावीर स्वामीने किया है यह एक गलत ख्याल है।

निश्चय ही इन दोनों महापुरुषोंसे पहिले भी सुदूर प्राचीन कालमें बौद्ध और जैन शासनके मूलतत्त्व सूत्ररूपसे प्रचलित थे। हां, इन तत्त्वोंका सुस्पष्ट रूपमें प्रचार करना, इनके माधुर्य एवं गाम्भीर्यकी ओर जन-समूहको आकर्षित करना तथा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करना कि जिसमें आबालवृद्ध समस्त नरनारी उन तत्त्वोंका आदर करें, इसे उन महापुरुषोंने अपने जीवनका एक गौरवमय व्रत बना लिया था। मूलतत्त्वकी दृष्टिसे तो भगवान बुद्ध और महावीर स्वामीके जन्मसे बहुत समय पूर्व बौद्ध मत और जैनधर्म विद्यमान थे। दोनों मत प्राचीन है, और उपनिषदोंके समान प्राचीन कहे जा सकते है।

बौद्ध तथा जैन मतको उपनिषदोंका समकालीन माननेके लिये कोई विशेष प्रमाण नहीं है और ये धर्म उपनिषदोंके समान प्राचीन नहीं माने जा सकते, इस प्रकारका तर्क करना ठीक नहीं है। उपनिषदोंने खुल्लमखुल्ला वेदोंका विरोध नहीं किया अत एव उनके माननेवालोंकी संख्या अन्योंकी अपेक्षा बहुत अधिक थी। अवैदिक मतावलम्बी प्रारम्भिक अवस्थामें कुछ शंकाग्रस्त थे अत एव उन्हें मैदानमें आनेके लिये बहुत समयकी प्रतीक्षा करनी पड़ी होगी। वे लोग अप्रकट थे, परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे यह नहीं कहा जा सकता कि वे उपनिषद्-कालमें विद्यमान ही नहीं थे, क्यों कि जिस समय चिन्तनशील, साधक या तपस्वी जन तत्त्वचिन्तामें तल्लीन थे उस समय उन्होंने केवल उपनिषदों में वर्णित मार्गकी ही खोज की हो यह असम्भव है। उस समय सभीको विचार और चिन्तनकी पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी और इस विचारस्वातन्त्र्यके प्रतापसे अनेक अवैदिक मतोंकी उत्पत्ति हुई थी। अन्य मत-

वादोंकी अपेक्षा उपनिषद्में कोई विशेषता नहीं है कि जिससे हम उपनिषद्को प्रथम नम्बर दे सकें।

अब, यदि वैदिक और अवैदिक मतवादका प्रादुर्भाव एक ही कालमे हुवा हो, उनमे उत्तरोत्तर उत्कर्ष हुवा हो तो उन सबमे बहुत सी बातोमे समानता होनी चाहिये। यह विषय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है और इसी लिये यह बात अत्यन्त युक्तिसंगत मानी जाती है कि किसी एक भारतीय दर्शनका अध्ययन करना हो तो प्रसिद्ध भारतीय दर्शनोंके साथ उसकी तुलना करनी चाहिये।

साधारणत भारतीय दार्शनिक मतवादमें जैन दर्शन एक उच्च प्रतिष्ठापूर्ण स्थानमे अवस्थित है, और विशेषत जैन दर्शन एक पूर्ण दर्शन है। तत्त्वविद्याके सभी अङ्ग इसमें विद्यमान है। वेदान्तमें तर्कविद्याका उपदेश नहीं है; वैशेषिक कर्माकर्म और धर्माधर्म विषयमें मौन है, परन्तु जैन दर्शनमे न्यायविद्या है, तत्त्व-विचार है, धर्मनीति है, परमात्म तत्त्व है और अन्य भी बहुत कुछ है। प्राचीन युगके तत्त्वचिन्तनका वास्तवमे कोई अमूल्य फल है तो वह जैन दर्शन है। जैन दर्शनको छोड़कर यदि आप भारतीय दर्शनकी आलोचना करने लगे तो वह अपूर्ण ही रहेगी।

मै जिस पद्धतिसे जैन दर्शनकी आलोचना करना चाहता हूं उसकी ओर ऊपर संकेत कर चुका हूं। मेरी आलोचना संकलनात्मक अथवा तुलनात्मक है। इस प्रकारकी आलोचना करना जरा कठिन काम है, क्यों कि इस प्रकारकी आलोचना करनेवालेको समस्त भारतीय दर्शनोंका

अच्छा ज्ञान होना चाहिये। परन्तु यहां मै अधिक गहराईमें जाना नहीं चाहता, केवल मूलतत्त्वोंके विषयमें ही एक-दो बात कहूंगा।

जैन दर्शनके विषयमें आलोचना करनेसे पूर्व एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है और वह यह कि जैमिनीय दर्शनको छोडकर प्रायः सभी भारतीय दर्शनोंने, स्पष्ट या अस्पष्ट रूपसे, वैदिक क्रियाकलापमें अन्धश्रद्धा रखनेका प्रबल विरोध किया है। सच पूछो तो, अन्धश्रद्धाके विरुद्ध युक्तिवादका जो अविराम युद्ध जारी है उसीका नाम दर्शन है। प्रस्तुत लेखमे, इसी दृष्टिसे भारतीय दर्शनोका निरीक्षण करना और उनके मुख्य-मुख्य तत्त्वोंकी आलोचना करनी है। यह याद रखना चाहिये कि भारतीय दर्शनोका जो क्रम-विकास मै यहां बतलाना चाहता हूं वह कालक्रमके अनुसार नहीं अपितु युक्तिवादकी दृष्टिसे होगा (क्रोनोलॉजिकल नहीं, किन्तु लोजिकल होगा)।

अर्थहीन वैदिक कर्मकाण्डका पूर्ण प्रतिवाद चार्वाक-सूत्रोंमें पाया जाता है। समाजमे इस प्रकारके विरोधी स्वतन्त्र सम्प्रदाय होते ही है। प्राचीन वैदिक समाजमें भी इस प्रकारके सम्प्रदाय मौजूद थे। वैदिक क्रियाकलापको कठोर भाषामें लताड़ बताना तो एक सहज बात है। विचारशील एव तत्त्वजिज्ञासु वर्ग इस प्रकारके कर्मकाण्डसे, अधिक समय तक सन्तुष्ट रह ही नहीं सकते। अत एव अर्थहीन क्रियाकांड – यथा यज्ञ सम्बन्धी विधि-विधान आदि – के प्रति प्रबल विरोध उत्पन्न हो तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। चार्वाक दर्शनका अर्थ ही वैदिक कर्मकाण्डका सतत विरोध है। चार्वाक दर्शनको एक विरोधी दर्शन कहना चाहिये। ग्रीसके सोफिस्टोंके समान चार्वाकवादियोंने भी कभी

विराट जगतके विषयमें अपना अभिप्राय प्रकट करनेका कष्ट नहीं उठाया। निर्माण करनेकी अपेक्षा तोड़फोड़ कर दबा देनेकी ओर ही उसकी अधिक प्रवृत्ति थी। वेद परभवको मानता है, चार्वाक उसे उड़ा देता है। कठोपनिषदकी द्वितीय वल्लीके छठे श्लोकमे इस प्रकारके नास्तिकवादका परिचय मिलता है—

"न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥"

इस श्लोकमें परलोकको न माननेवालोंका उल्लेख है। इसी उपनिषदकी छठी वल्लीके १२वे श्लोकमें नास्तिकताकी निंदा की है—

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥

प्रथम वल्लीके बीसवे श्लोकमें भी इस प्रकारके अविश्वासी लोगोंका वर्णन है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके॥

वेद यज्ञ और कर्मकाण्डका उपदेश देते थे। नास्तिक लोग इस यज्ञ और क्रियाकाण्डके विषयमें केवल शंकाशील ही नहीं थे अपितु, इस विधि-विधानमें कितनी विचित्रता भरी है यह भी बतलाते थे। उपनिषद् वेदके अंगरूप माने जाते हैं, परन्तु इन्हीं उपनिषदोंमें अनेक स्थलों पर वैदिक कर्मकाण्डके दोष बतलाए गए हैं। मै यहां केवल एक ही उदाहरण देता हूं—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतत् श्रेयो येऽभिनन्दंति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति॥
मुण्डकोपनिषद् १:२:७

"यज्ञ और उसके अठारह अंग तथा कर्म सब अदृढ और विनाशशील है। जो मूढ इन्हे श्रेयः मानते है वे पुनः पुन: जरामृत्युके चक्रमें पड़ते है।

परन्तु उपनिषद् और चार्वाकमें एक भेद है। उपनिषद् एक उच्चतर एव महत्तर सत्य प्रकट करनेके लिये वैदिक कर्मकाण्डकी खबर लेता है, पर चार्वाकको दोष दिखलानेके अतरिक्त और कोई कार्य ही नहीं रहता। चार्वाक दर्शन एक निषेधवाद मात्र है; इसके यहां विधिका तो नाम ही नहीं है। उसका मुख्य उद्देश्य केवल वैदिक विधि-विधानको तहस-नहस कर देना ही है। परन्तु यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि सर्व-प्रथम किसीने युक्तिवादका आश्रय लिया है तो वह चार्वाक दर्शन ही है। अन्य भारतीय दर्शनोमें बादको यही युक्तिवाद फूलाफला प्रतीत होता है।

नास्तिक चार्वाकके समान जैन दर्शनमें भी वैदिक कर्मकाण्डकी निरर्थकता बतलाई गई है। जैन दर्शनने वेदशासनका खुल्लमखुल्ला विरोध किया है और अन्य नास्तिकोंकी भांति यज्ञादि क्रियाका मुक्त कण्ठसे प्रतिवाद किया है यह बात सबको भली भांति विदित है। चार्वाक और जैन दर्शनमें यदि कुछ समानता है तो बस इसी सीमा तक, नहीं तो पूरी तरह छानवीन करने पर मालूम होता है कि जैन दर्शन चार्वाककी भांति केवल निषेधात्मक नहीं है। जैन दर्शनका उद्देश्य एक पूर्ण दार्शनिक मत उत्पन्न करना मालूम होता है। सर्वप्रथम जैन दर्शनने इन्द्रिय-सुख-विलासका अवज्ञा पूर्वक परिहार किया है। अर्थहीन क्रियाकलापका विरोध करनेमें चार्वाकका औचित्य भले ही मान लिया जाय, परन्तु इसके आगे किसी गंभीर विषय पर विचार करनेकी उसे सूझी ही नहीं।

मनुष्यप्रकृतिमे जो पाशविकताका अंश है, चार्वाक दर्शन उसीको पकड़कर बैठ रहा। वैदिक कर्मकाण्ड चाहे जैसा हो, परन्तु उससे जनताकी लोलुपता एक सीमा तक संयत रह सकती थी—स्वच्छन्द इन्द्रियविलासका मार्ग कुछ कण्टकाकीर्ण बन जाता, परन्तु चार्वाक दर्शनको यह मंजूर न हुवा और इसी लिये उसने वेदशासनको अमान्य ठहराया। निरर्थक, भारभूत कर्मकाण्डके विरुद्ध यदि वस्तुत. बगावत ही करनी हो तो बगावत करनेवालेको उससे कुछ अधिक कर दिखाना चाहिये। अन्धश्रद्धा और अन्ध क्रियानुरागसे मानवबुद्धि और विवेकशक्तिका घोर अपमान होता है; इस विचारसे कर्मकाण्डका विरोध किया जाय तो उचित है; परन्तु इन्द्रियसुखवृत्ति इतने दूर दृष्टिपात नहीं कर सकती यह बात जैन दर्शनको सूझी, अत एव बौद्धोंके समान अध्यात्मवादी जैन दर्शनने चार्वाक मतका परिहार किया।

अब चार्वाकके पश्चात् सुप्रसिद्ध बौद्ध दर्शनके साथ जैन दर्शनकी तुलना करते है। बौद्धोंने भी अन्य नास्तिक मतोंकी भांति वैदिक क्रियाकाण्डका विरोध किया है। परन्तु इन्होंने विशेष उत्तम युक्तिसे काम लिया है। उनका वैदिक कर्मकाण्ड पर किया हुवा दोषारोपण युक्तिवाद पर प्रतिष्ठित है। बौद्धमतके अनुसार जीवका सुखदु ख कर्माधीन है। जो कुछ किया जाता है और जो कुछ किया है उसीके कारण सुखदु ख मिलता है। असार और मायावी भोगविलास पामर जीवोंको पीस डालता है। सांसारिक सुखके पीछे दौड़नेवाला जीव जन्म-जन्मान्तरोंके भंवरमें पड जाता है। इस अविराम दु ख-क्लेशसे छुटकारा पानेके लिये कर्मबन्धनका टूटना आवश्यक है। कर्मकी सत्तासे मुक्त

होनेके पूर्व कुकर्मके स्थानमें सुकर्मकी स्थापना होनी चाहिये। अर्थात् भोगलालसाका स्थान वैराग्य, संयम, तप, जपको और हिंसाका स्थान अहिंसाको मिलना चाहिये। इत्यादि। वैदिककर्मोंके अनुष्ठानसे बहु-संख्यक निरपराध प्राणियोकी हिंसा होती है। केवल इतना ही नहीं बल्कि इस कर्मका अनुष्ठान करनेवाला जीव, कृतकर्मके बलसे स्वर्गादि भोगमय भूमिमें जाता है। इस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे, जीवके दु खमय भवभ्रमणका एक निमित्त बनता है। बौद्ध मत इसी लिये वैदिक कर्मकाण्डका त्याग करनेको कहता है। बौद्धोंका यह मुख्य विश्वास है कि वैदिक कर्मकांड हिंसाके पापसे रंगा हुवा है तथा वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे निर्वाणके पथमें एक अन्तरायभूत है अत एव वह निरर्थक है। यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध दर्शन, चार्वाक दर्शनके समान वेदशासनका विरोध करता है तथापि वह चार्वाकोंके भोगविलासका प्रबल विरोधी है। वैदिक कर्मकाण्डका त्याग करनेमें कहीं लालसाके गहरे अन्धकूपमें न फिसला जाय, इस बातकी बौद्ध दर्शन पूर्णतः सावधानी रखता है। वह तो कठिन संयम और त्यागसे कर्मकी लोहशृंखला तोड़नेका उपदेश देता है।

बौद्ध दर्शनके समान जैन दर्शन भी स्वीकार करता है कि जीव, कर्मबन्धनके कारण ही संसारमें सुखदुःख भोगता है। बौद्ध मतके समान जैन दर्शन वेदशासनको अमान्य बतलाता है और चार्वाकोंके इन्द्रिय-भोगविलासको धिक्कारता है। बौद्ध और जैन एक स्वरसे अहिंसा और वैराग्यको ही ग्राह्य बतलाते है। विशेषत. अहिंसा और वैराग्य पर जैन मत तो खूब ही जोर देता है। इस प्रकार बाह्य दृष्टिसे समान

प्रतीत होते हुवे भी जैन और बौद्ध दर्शनमे बहुत भेद है। बौद्ध दर्शनकी नींवमें जो कमजोरी है वह जैन दर्शनमें नहीं है।

परीक्षा करने पर स्पष्ट माऌम हो जायगा कि बौद्ध मतकी सुन्दर अट्टालिकाकी नीतिकी नीव बिल्कुल कच्ची है। वेदशासनको अमान्य करनेका उपदेश भी ठीक है, अहिंसा और त्यागका आग्रह भी ठीक है, कर्मबन्धन तोड़नेकी बात भी अर्थयुक्त है, परन्तु जब हम बौद्ध दर्शनसे पूछते हैं कि—'हम कौन हैं ? तुम जिसे परमपद कहकर साध्य मानते हो वह क्या है ?' तब वह जो जवाब देता है वह सुनकर तो हम दंग रह जाते हैं। वह कहता है—"हम यानी शून्य—अर्थात् कुछ नहीं।" तब क्या हमें हमेशा अन्धकारमें ही टक्कर मारनी होगी ? और अन्तमें भी क्या सबको असाररूप महाशून्यमें ही मिल जाना होगा ? इस भयंकर महानिर्वाण अर्थात् अनन्तकालव्यापी महानिस्तब्धताके लिये मनुष्य-प्राणी कठोर संयमादि क्यों स्वीकार करे ? महाशून्यके लिये जीवनके सामान्य सुखको क्यो छोडा जाय ? यह जीवन निःसार है तो होने दो, इसके पश्चात जो कुछ मिलना है यदि वह इससे भी अधिक निःसार हो तब तो कोई उसकी तनिक भी इच्छा क्यों करे ? सारांश यह कि बौद्ध दर्शनके इस अनात्मवादसे साधारण मनुष्यको सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता। बौद्ध धर्म एक बार अपनी सत्ता पूर्णतः स्थापित कर चुका है और जनता पर प्रभाव डाल चुका है, परन्तु यह तो कोई भूलकर भी न कहेगा कि इसका कारण यह अनात्मवाद था। बौद्धोंमें एक "मध्यम मार्ग" है। बुद्धदेव-प्रदर्शित इस मार्गमें जो कठोरता रहित तपश्चर्याका एक प्रकारका आकर्षण था उसके

कारण जैन भी बौद्ध दर्शनकी ओर आकृष्ट हुवे थे। "मै हूं" यह अनुभव तो सभीको होता है। "मै वास्तवमें हूं, मै छायामात्र ही नहीं हूं" यह तो सभी अन्त.करणसे मानते है।

आत्मा अनादि अनन्त है, यह बात उपनिषदकी प्रत्येक पंक्तिमें उज्ज्वल अक्षरोमे अंकित हैं। वेदान्त भी इसी बातका प्रचार करता है। आत्मा है, आत्मा सत्य है, इसे किसीने उत्पन्न नहीं किया, यह अनन्त है, आत्मा जन्म-जन्मान्तरको प्राप्त होता है, सुखदु:ख भोगता है, यह बात प्रतीत होती है, परन्तु वास्तवमे वह एक असीम सत्ता है, ज्ञान और आनन्दके सम्बधसे असीम और अनन्त है – वेदान्त दर्शनका यह मूल प्रतिपाद्य विषय है। जैन दर्शनने आत्माकी असीमता और अनन्तताको स्वीकार करके वेदान्त दर्शनके अविरोधी दर्शनके रूपमे ख्याति प्राप्त की है।

वौद्ध दर्शनके अनात्मवादकी खबर लेने और आत्माकी अनन्त सत्ताकी घोषणा करनेमे जैन और वेदान्त एकमत हो जाते है. परन्तु ये दोनों अभिन्न नहीं है, दोनोंमे पार्थक्य है; वेदान्त जीवात्माकी सत्ता स्वीकार करके ही नहीं रुक जाता: दर्शन–संसारमे वह एक कदम और आगे बढता है और खुल्लमखुल्ला कहता है कि जीवात्मा और परमात्मामे कोई भेद नहीं है। वेदान्त मतके अनुसार यह चिदचिन्मय विश्व, एक अद्वितीय सत्ताका विकासमात्र है। "मै वह हूं", विश्वका उपादान वही है. मैं उससे भिन्न अथवा स्वतन्त्र सत्ता नहीं हूं. यह अनन्त बाह्य जगत्–जो मुझसे स्वतन्त्र दीखता है – उससे पृथक् अथवा स्वतन्त्र नहीं है, एक अद्वितीय सत्ताका ही यह सर्व विलास है,

आप और मैं, चित् अचित् ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उस 'सत्यस्य सत्यम्' से पृथक् हो।

वेदान्तका यह '**एकमेवाद्वितीयम्**' वाद अत्यन्त गंभीर और बहुत प्रबल है। परन्तु साधरण मनुष्य इतनी गहराई तक पहुंच सकता है या नहीं, यह एक प्रश्न है। साधारण मनुष्य इतना तो अनुभव कर सकता है कि जीवात्मा नामकी कोई एक सत्ता है, परन्तु एक मनुष्यसे दूसरेमें कोई भेद ही नहीं है, मन एक जड़ पदार्थ है, अन्य दृष्टिगोचर पदार्थोंमें कोई भेद नहीं है, इन बातों पर विचार करनेमें उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। कल्पना कीजिये कि कोई बुद्धिमान पुरुष यह सिद्धान्त निश्चित करता है कि, मैं अन्य सबसे पृथक् हूं, स्वतन्त्र हूं, मेरा अन्य जड़चेतन पदार्थोंके साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है और इस चराचरविश्वमें असंख्य स्वतन्त्र पदार्थ भरे पड़े है; तो हम उसके इस सिद्धान्तको सर्वथा युक्तिरहित किस प्रकार कह सकते है? और सच पूछो तो यह सिद्धान्त बिल्कुल रद्दी मान लेने योग्य है भी नहीं। संसारका अधिकांश भाग तो यही अनुभव करता है और यही सिद्धान्त मानता है। यही कारण है कि वेदान्त मत सबके स्वीकार करने योग्य नहीं रहा।

कपिलमुनिप्रणीत प्रसिद्ध सांख्य दर्शनके मतवाद पर भी विचार करना आवश्यक है। वेदान्तकी भांति सांख्य भी आत्माको अनादि और अनन्त मानता है। परन्तु वह आत्माके बहुत्वसे इन्कार नहीं करता। वेदान्त मत और सांख्यमें एक और भी मतभेद है। सांख्य मतानुसार आत्मा अथवा पुरुषके साथ प्रकृति नामक एक, अचेतन होते हुवे भी

क्रियाशील, विश्वरचना-कुशल शक्ति मिल गई है। और ये दोनों मिल-कर सब उलट फेर करते रहते है। इस प्रकार सांख्य आत्माके अना-दित्व, अनन्तत्व और असीमत्वको स्वीकार करता है। इस मतमें आत्माकी बहुसंख्या मानी है। कपिलमत कहता है कि, यद्यपि पुरुषसे पृथक् एक अचेतन प्रकृति है, परन्तु वह किसी समय पुरुषसे मिली हुई प्रतीत होती है। इस विजातीय प्रकृतिके अधिकारसे आत्माको अलग करनेका—पृथक् अनुभव करनेका—नाम ही मोक्ष है।

हम देख चुके है कि जैन दर्शन भी आत्माको अनादि और अनन्त मानता है। कपिल दर्शनके समान जैन दर्शन भी स्वाधीन आत्माके साथ स्वभावत ही संलग्न एक विजातीय पदार्थका अस्तित्व स्वीकार करता है। एवं सांख्यके समान जैन मत भी आत्माके बहुत्वको मानता है। सांख्य और जैन, दोनों ही आत्माको विजातीय पदार्थके संयोगसे पृथक् करनेको मोक्ष मानते है।

यहां एक अन्य बातकी ओर ध्यान जाता है। प्रत्येक मनुष्य, —इस प्रकार, कि जिसे वह स्वयं भी नहीं समझता—अपनेसे उच्चतर, महत्तर और पूर्णतर एक आदर्शकी कल्पना करता है। भक्तजन मानते हैं कि एक ऐसा पुरुष, ऐसा ईश्वर, प्रभु या परमात्मा है जो सर्व प्रकारसे पूर्ण है। एक ऐसे सुमहान्, पवित्र, आदर्श पूर्ण ज्ञानवान्, वीर्य-आनन्दके आधार पुरुषप्रधानमें स्वभावत ही मनुष्यको श्रद्धा उत्पन्न होती है। यदि अद्भुत दैवी शक्तिमें विश्वास रखनेका नाम धर्म हो तो वह मनुष्योंके लिये बहुत सरल है। ज्ञान, वीर्य, पवित्रता आदिमें हम बहुत ही पामर है, परिमित हैं और पराधीन है। अत जिस विषयमें

हम आगे बढना चाहते हैं, अधिकार प्राप्त करना चाहते है, वह जिसमें अधिक उज्ज्वल और अधिक पूर्ण हो उस शुद्ध, निष्पाप प्रभु अथवा परमात्मामें हमारी श्रद्धा हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

टीकाकारोंकी बातको छोड दे। सांख्य दर्शनमे ऐसे किसी शुद्ध और परिपूर्ण परमात्माको स्थान नहीं है। पवित्र परमात्माके अस्तित्वमें श्रद्धा रखनेकी मनुष्यको स्वाभाविक प्रेरणा होती है। उसे तृप्त करनेका योग दर्शनने यत्न किया है। सांख्यके समान योग दर्शन आत्माकी सत्ता और संख्या मानता है, परन्तु यह उससे एक कदम और आगे बढ जाता है। वह जीवमात्रके अधीश्वर एक अनन्त और आदर्श रूप परमात्माकी सत्ता मानता है। यहां योग दर्शन और जैन दर्शनमें समानता दिखलाई देती है। योग दर्शनके समान जैन भी प्रभु, परमात्मा या अरिहन्तको मानते है। जैनोंका परमात्मा जगत्स्रष्टा नहीं है तथापि वह आदर्श, परिपूर्ण, शुद्ध और निर्दोष तो है ही। संसारी जीव एकाग्र चित्तसे उसका ध्यान और उसकी पूजा आदि कर सकते है। वे कहते है कि परमात्माकी भक्ति, पूजा और ध्यान-धारणासे जीवोंका कल्याण होता है, उपासकको निर्मल ज्ञानकी प्राप्ति होती है एवं अनेकविध बन्धनोंमे जकड़े हुवे प्राणीको नवीन प्रकाश और नवीन बल प्राप्त होता है। जैन और पातञ्जल, ये दोनो दर्शन उपर्युक्त सिद्धान्तको मानते है।

अब हम कणादप्रणीत वैशेषिक दर्शनकी ओर आते है। संक्षेपमे, वैशेषिक दर्शनके विषयमे यह कह सकते हैं—

आत्मा अथवा पुरुषसे जो कुछ स्वतन्त्र है वह सब प्रकृतिमें समा जाता है, यह सांख्य और योग दर्शनका मत है। इसका तात्पर्य यह

है कि सत् पदार्थमात्र विश्वप्रधानमें बीजरूपसे विद्यमान रहता है। इस लिये कपिल और पतञ्जलिने आकाश, काल और परमाणुओंके विषयमें तात्त्विक निर्णय करनेकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। वे केवल यह कहकर छुटकारा पा जाते है कि ये सब प्रकृतिकी विकृति है। परन्तु यह बात इतनी सरल नहीं है। साधारण मनुष्यकी दृष्टिमें तो दिशा, काल और परमाणु भी अनादि और स्वतन्त्र सत्पदार्थ है। जर्मन दार्शनिक काण्ट कहता है कि, दिशा और काल तो मनुष्यके मनमें संस्कारमात्र है; परन्तु यह सिद्धान्त अन्त तक न ठहर सका। बहुतसे स्थानोंमें स्वयं काण्टको ही कहना पड़ा है कि, दिशा और कालकी भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। इसके अतिरिक्त डेमोक्रिट्ससे लेकर आज तकके सभी वैज्ञानिकोंने परमाणुका अनादित्व और अनन्तत्व स्वीकार किया है। केवल कपिल और पतञ्जलि ही दिशा, काल और अनादित्व और अनन्तत्वको स्वीकार न कर सके। प्रकृति और लक्षण भिन्न-भिन्न होते हुवे भी दिशा, काल और परमाणु आदि एक अद्वितीय विश्व-प्रधानके विकार किस प्रकार माने जा सकते है, यह बात समझमें नहीं आती। तथापि सांख्य और योग दर्शनने यह मत अङ्गीकार किया है।

वैशेषिक दर्शनने परमाणु, दिशा और कालका अनादित्व तथा अनन्तत्व स्वीकार किया है। प्रत्यक्षवादी चार्वाकको तो दिशा कालादिके विषयमें विचार करनेकी भी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। दिशा और काल चाहे हमें सत्य ही क्यों न प्रतीत होते हो, परन्तु शून्यवादी बौद्ध उन्हे अवस्तु स्वरूप ही बतलाते है। वेदान्तमत भी इससे मिलता जुलता ही है। सांख्य और योग मतानुसार दिशा और काल अज्ञेय प्रकृतिमें

बीजरूपसे छुपे रहते हैं। केवल एक कणाद मत ही दिशा, काल और परमाणुकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है। वैशेषिक दर्शनके समान जैन दर्शन भी इन सबकी अनादिता और अनन्तताको स्वीकार करता है।

भारतीय दर्शनके सुयुक्तिवाद रूप वृक्षके ये सब सुन्दर फलफूल है। न्याय दर्शनमें युक्तिप्रयोगने अच्छा स्थान प्राप्त किया है। तर्कविद्याकी जटिल नियमावली इस न्याय दर्शनकी अंगभूत है। गौतम दर्शनमें हेतुज्ञानादिका अत्युत्तम रूपसे स्पष्टीकरण किया गया है, परन्तु जैन दर्शन तो जगतके दार्शनिक तत्त्वोंका एक समृद्ध भण्डार ही है, यह कहना कुछ अत्युक्ति न होगी। जैन दर्शनमें तर्कादि तत्त्वोंकी सुन्दर, शोभायमान आलोचना मिलती है। इस विषयमें जैन दर्शन और न्याय दर्शनमें बहुत कुछ साम्य है। परन्तु इससे यदि कोई यह कहने लगे कि न्याय दर्शनका अध्ययन करनेके पश्चात् जैन दर्शनका अध्ययन करनेकी क्या आवश्यकता है, तो वह अवश्य धोखा खाएगा। इन दोनों दर्शनोंमें, समानता होते हुवे भी कुछेक भेद है। जैन दर्शनमें स्याद्वाद अथवा सप्तभंगी नय नामक सुविख्यात युक्तिवादका जो अवतरण पाया जाता है वह गौतम दर्शनमें भी नहीं है। यह युक्तिवाद जैनोंका अपना और उनके गौरवको समुज्ज्वला करनेवाला है।

इस विवेचनसे यह बात समझी जा सकती है कि, भारतीय दर्शनोंमें जैन दर्शनको कितना उच्च स्थान प्राप्त है। कुछ लोगोने जैन दर्शनको बौद्ध दर्शनके समान ही मान लिया था। लासेन और वेबरने यह भूल की है। ईस्वी सनकी सातवीं शताब्दीमें ह्युएनसंग भी वही मान बैठा। जेकोबी और बुलरने इस भ्रमको दूर किया। इसने जैन दर्शनको स्वतन्त्र

ही घोषित नहीं किया बल्कि यह भी सिद्ध किया कि यह बुद्धके पहिले भी था। मै यहां पुरातत्व संबन्धी विषयकी चर्चा करना नहीं चाहता। मैंने पहिले ही कह दिया है कि जिन्हें बौद्ध और जैन धर्मका प्रवर्तक माना जाता है, उनसे भी बहुत पहिले ये धर्म विद्यमान थे। बौद्ध धर्मको न तो बुद्धने उत्पन्न किया है और न जैन धर्मका आविष्कार महावीर स्वामीने ही सर्वप्रथम किया है। जिस विरोधसे उपनिषदोंका प्रादुर्भाव हुआ है उसी विरोधसे—वेदशासन और कर्मकाण्डके विरुद्ध—जैन और बौद्ध प्रकट हुये है। ह्युएनसंगने जैन धर्मको बौद्धधर्मान्तर्गत क्यों समझ लिया यह बात इससे भली भांति प्रकट है। वह जब भारतवर्षमें आया तब बौद्ध धर्मका प्रबल प्रताप था। जैनोंके समान ही बौद्ध भी अहिंसा और त्यागका उपदेश देते थे। वैदिक क्रियाकाण्डके विरुद्ध बौद्धोंने जो बलवा किया था उसमें अहिंसा और त्याग ये दोनों शस्त्र बचाव और आक्रमण दोनो ही कार्योंमें विना संकोच प्रयुक्त किये जाते थे। अवैदिक सम्प्रदाय भी अहिंसा और त्यागके पक्षपाती थे। वैदिक यज्ञ हिंसासे लिप्त थे और इस लोक तथा परलोकके क्षणिक सुखके लिये ही किये जाते थे।

जैन सम्प्रदायने वेदशासनका विरोध किया और अहिंसा तथा वैराग्य पर खूब जोर दिया। इससे साधारण दृष्टिसे देखनेवालोंको बौद्ध तथा जैन मत एक जैसा दिखलाई दिया। एक विदेशी मुसाफिर उपर्युक्त कथनानुसार वाह्य रूप देखकर बौद्ध तथा जैन मतको एक मान ले तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। इसके अतरिक्त दोनों सम्प्रदायोंने आचार-विचार भी कुछ समान थे। परन्तु दोनों मत तात्विक दृष्टिसे पूर्णतः

भिन्न है यह बात अब बहुत लोग समझने लगे है। उदाहरणार्थ हम कह सकते है कि, संसारके क्षणिक सुखोंका त्याग करके खुब कठोर संयम पालन करना — जीवनको क्रमशः विशुद्ध बनाना — और मोक्ष प्राप्त करना यह प्रत्येक भारतीय दर्शनका उद्देश्य होता है। परन्तु इतनेसे हम सभी दर्शनोंको तात्विकि दृष्टिसे एक नहीं कह सकते। जिस प्रकार उत्तर और दक्षिण दिशा एक दूसरेसे भिन्न और स्वतन्त्र है उसी प्रकार दर्शन और सिद्धान्त भी बाहरसे समान मालूम होते हुवे भी भिन्न और स्वतन्त्र हो सकते है। एक समय ऐसा था कि जब बौद्ध और जैन पूर्ण त्यागको अपना आदर्श मानते थे, अत एव आचरोंमें भी सामान्य सादृश्य दिखलाई देता था. परन्तु वास्तवमें वे भिन्न थे। यह कहना भी उचित नहीं है कि, एकने दूसरेसे अमुक नीति ग्रहण की है। हां, यह कहा जा सकता है कि, वैदिक संप्रदायके निष्ठुर क्रियाकलापके विरुद्ध जो विप्लव हुवा उसमे दोनोंको समान रूपसे सामना करना पड़ा हो — एक समान किलेबंदी करनी पड़ी हो।

जरा गहराईसे विचार करें तो मालूम होगा कि, जैन और बौद्ध धर्म एक दूसरेसे भिन्न और स्वतन्त्र हैं। बौद्ध केवल शून्यको पकड़े बैठे है, जैन अनेक पदार्थोंकी सत्ता मानते है। बौद्ध मतमे आत्माका अस्तित्व नहीं है, परमाणुका अस्तित्व नहीं है, दिशा, काल और धर्म (गतिसहायक) का अस्तित्व भी नहीं है। ईश्वरको भी वे नहीं मानते। परन्तु जैन मत इन सबकी सत्ता स्वीकारता है। बौद्ध मतानुसार निर्वाण प्राप्तिका अर्थ है शून्यमे मिल जाना, परन्तु जैन मतमें मुक्त जीवोको अनन्त ज्ञान — दर्शन — चारित्रमय तथा आनन्दमय माना

गया है और यही वास्तविक जीवन है। बौद्ध दर्शन और जैन दर्शनके 'कर्म' का अर्थ भी भिन्न है।

जैन धर्म बौद्ध धर्मकी शाखा नहीं है यह तो सहज ही सिद्ध हो जाता है।

बौद्ध दर्शनकी अपेक्षा सांख्य दर्शनसे जैन दर्शन अधिक मिलता हुवा प्रतीत होता है। सांख्य और जैन ये दोनों वेदान्तके अद्वैत वादको नहीं मानते और आत्माके बहुत्वको स्वीकार करते है। इसके अतिरिक्त ये दोनों, जीवसे भिन्न अजीव तत्त्व भी मानते है। परन्तु इससे हम यह नहीं कह सकते कि, एकने दूसरेसे कुछ मांगा है या एक मूल है और दूसरा शाखा। बारीकीसे देखे तो मालूम होगा कि सांख्य और जैन मतका बाह्य रूप समान होते हुवे भी भीतर बहुत भेद है। उदाहरण स्वरूप सांख्य दर्शनने अजीव तत्त्व अर्थात् प्रकृति एक ही मानी है, परन्तु जैन दर्शनमे अजीवके पांच भेद हैं, और इन पांचमे पुद्गल तो अनन्तानन्त परमाणुमय है। सांख्य केवल दो ही तत्त्व मानता है, किन्तु जैन दर्शनमें बहुतसे तत्त्व है। एक मुख्य अन्तर यह भी है कि, कपिल (सांख्य) दर्शन अधिकांशमे चैतन्यवादी मालूम होता है पर जैनदर्शन जड़वादके निकट पहुंचता हुवा प्रतीत होता है।[1] *

---

[1] इस स्थल पर किसीको यह समझ बैठनेकी भूल न करनी चाहिये कि सांख्य दर्शन पूर्णतः चैतन्यवादी है और जैन दर्शन पूर्णतः जड़वादी। लेखकका आशय यह नहीं है। (गुजराती अनुवादक श्रीसुशील).

* यहां सांख्य दर्शन पूर्णत चैतन्यवादी है और जैन दर्शन पूर्णतः

सांख्य दर्शनका अध्ययन करनेवालेको सबसे पहिले यह जिज्ञासा होती है कि, " प्रकृतिका स्वरूप क्या है ? यह जड़स्वरूप है या चैतन्य-स्वरूप ?" प्रकृतिको सर्वांशतः जड तो कह ही नहीं सकते, साधारणतः हम जिसे जड़ कहते है वह तो प्रकृतिकी विकृति-क्रियाका अन्तिम परिणाम होता है। तब प्रकृतिको क्या समझा जाय ? सांख्य दर्शनने प्रकृतिका अस्पष्ट लक्षण किया है कि, पृथक् पृथक् भाववाले गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है। परन्तु इन्द्रिय-ग्राह्य उपर्युक्त जड पदार्थ विभिन्नभावी गुणत्रयकी साम्यावस्थारूप तो है नहीं, यह तो प्रत्यक्ष ही है। ' बहु ' के भीतर जो ' एक ' है, विविध संघर्षणपरायण गुण-

---

जड़वादी है ऐसा समझना नहीं चाहिए। लेखक इस उल्लेखसे अजीव तत्त्वको ही स्पष्ट करते हैं। यहा लेखकका कहना निम्न प्रकार है—

सांख्यके अजीव तत्त्वमें केवल एक प्रकृति ही है, जो आध्यात्मिक पदार्थ है। उसमेंसे बुद्धितत्त्व प्रकट होता है तथा पाच इंद्रिय और तन्मात्राएं भी उत्पन्न होती है। अत सांख्य दर्शनकी प्रकृति वस्तुतः जड नहीं है, किन्तु चेतन्य रूप है।

जैन दर्शनके अजीव तत्त्वमें भिन्न भिन्न पाच द्रव्य हैं, वे सभी निर्जीव हैं। अतः जैन दर्शनके अजीवतत्त्व जड़ हैं न कि चैतन्यरूप।

लेखक महोदय भी उपसहारमें इस आशयको ही स्पष्ट करते हैं। जैसा कि—

"उपर्युक्त कथनानुसार सांख्यकथित अजीवतत्त्व याने प्रकृतिका अध्यात्मपदार्थके रूपमें परिणमन किया जा सकता है, परन्तु जैन दर्शनके अजीवतत्त्वोंको किसी प्रकार भी जीवस्वभावकी कोटिमें नहीं रक्खा जा सकता"। (देखिए पृष्ठ २५)

"(नैयायिकके) महाभूत और अदृष्ट ये दोनों जड़ है।" (पृष्ठ ३३)

(मु श्रीदर्शनविजयजी)

पर्यायोंके अन्दर भी जो अपना एकत्व अथवा अद्वितीयत्व स्थिर रख सकता है उसे तो जड़ पदार्थ कहनेकी अपेक्षा अध्यात्मपदार्थ कहना अधिक उचित है। भूयोदर्शन और तत्वविचार भी इसी सिद्धान्तका समर्थन करते है। भिन्न भिन्न भाववाले तीन गुणोंके द्वारा विशिष्ट प्रकृति यदि सतत जगतविवर्तरूपी क्रिया कर रही हो तो उसे अध्यात्म पदार्थ ही मानना पड़ेगा। इसका इस प्रकार यह अर्थ हुवा कि, विभिन्न गुणत्रयको प्रकृतिके आत्मविकासमे प्रकारत्रय माना जाय। प्रकृतिको स्वभावत एकान्त विभिन्न गुणत्रयका अचेतन संघर्षक्षेत्र ही माना जाय तो प्रकृतिमेसे कोई पदार्थ भी उत्पन्न नही हो सकता। प्रकृतिको अध्यात्म पदार्थ माने तो जगतविकासका स्पष्टीकरण हो जाता है।

प्रकृतिके उत्पन्न किये हुवे तत्वोमे पहिला तत्व महत्तत्व अथवा बुद्धितत्व है। यह पत्थरके समान जड नही है, यह तो अध्यात्म पदार्थ है। इसके बाद इन्द्रिय, पञ्च तन्मात्रा और धीरे धीरे महाभूतोकी उत्पत्ति मानी गई है। यदि प्रकृतिको पूर्णतः जड़ माने तो उससे विश्वोत्पत्ति होना एक अर्थहीन व्यापार हो जाय। महत्तत्व अथवा अहंकार अध्यात्म पदार्थ है, और कपिल मुनिका मत है कि, कार्य तथा कारण एक ही स्वभावके पदार्थ होते है। अत एव प्रकृतिमातासे उत्पन्न तत्वोंकी भांति स्वयं प्रकृति भी अध्यात्म पदार्थ ही है यह मानना युक्तिसंगत है। यदि प्रकृतिको पूर्णत' जड़ माने तो जड़ स्वभाववाली पंच तन्मात्रासे पूर्व, उपर्युक्त दो अध्यात्म पदार्थोंका जन्म किस प्रकार हुवा होगा, यह समझमें नहीं आता। निष्कर्ष यह कि प्रकृतिको अध्यात्म पदार्थ

माने बिना काम ही नहीं चल सकता। प्रकृति बीजरूपी चित पदार्थ है। इसके पूर्ण विकासके लिये सर्वप्रथम लक्ष्यज्ञान तथा आत्मज्ञानकी आवश्यकता होती है और उसमेंसे बुद्धि तथा अहंकारका जन्म होता है। इसके पश्चात् प्रकृति अपनेमेंसे आत्मविकासके कारणस्वरूप, आवश्यकतानुसार धीरे धीरे इन्द्रिय, तन्मात्रा और महाभूतादि जड तत्त्व उत्पन्न करती है। इस प्रकार प्रकृतिको अध्यात्म पदार्थ और उसकी सन्ततिको उसके (प्रकृतिके) आत्मविकासका साधनरूप माननेसे सांख्यकथित जगत-विवर्त-क्रिया भली भांति समझमें आ जाती है।

प्रकृतितत्त्वको अध्यात्म पदार्थ माने बिना और कोई चारा ही नहीं। प्राचीन कालमें किसीने ऐसी कल्पना नहीं की थी यह भी नहीं कहा जा सकता। कठोपनिषद्की तीसरी वल्लीके निम्नलिखित १०, ११ श्लोकमें प्रकृतिको अध्यात्मस्वभावरूपमे प्रकट किया है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि सांख्य दर्शनको वेदान्त दर्शनमें परिणत करनेका प्रयत्न किया गया है।

> इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
> मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ १०॥
> महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
> पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥ ११॥

इन्द्रियोंसे अर्थ (इन्द्रियार्थ) श्रेष्ठ है, अर्थोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि, बुद्धिसे महदात्मा, महदात्मासे अव्यक्त और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है। पुरुषकी अपेक्षा अन्य कुछ अधिक श्रेष्ठ नहीं है। पुरुष ही सीमा और श्रेष्ठ गति है।

जैन दर्शनका मन्तव्य इससे सर्वथा भिन्न है। जैन दर्शन अजीव

तत्त्व मानता है। वह एकसे अधिक तो है ही, इसके साथ ही, उसे (अजीवको) अनात्मस्वभाव भी माना है।

उपर्युक्त कथनानुसार सांख्यकथित अजीवतत्त्व याने प्रकृतिका अध्यात्मपदार्थके रूपमें परिणमन किया जा सकता है, परन्तु जैन दर्शनके अजीवतत्त्वोंको किसी प्रकार भी जीवस्वभावकी कोटिमें नहीं रक्खा जा सकता।

अजीव पांच हैं—पुद्गल नामक जड परमाणु, धर्म नामक गति-तत्त्व (धर्मास्तिकाय), अधर्म नामक स्थितितत्त्व (अधर्मास्तिकाय), काल और आकाश। ये सब या तो जड़ पदार्थ हैं या उनके सहकारी। इसके अतिरिक्त जैन मतमें आत्माको अस्तिकाय अर्थात् परिमाणविशिष्ट रूपमें दिखलाया है। आत्मामें कर्मजनित लेश्या अथवा वर्णभेद भी माना है। जैन दर्शनमें आत्माको अतिशय लघु पदार्थ और ऊर्ध्वगति-शील माना है। यह सब बातें सांख्यसे असमान—भिन्न हैं।

मैंने जो ऊपर कहा है कि सांख्य दर्शन अधिकांशमें चैतन्य-वादके निकट पहुंचता है और जैन दर्शन कितने ही स्थानोंमें जड़-वादके पास पहुंचता हुवा दिखलाई देता है, इसका भावार्थ उपर्युक्त विवेचनसे कुछ समझमें आ सकता है।

सांख्य दर्शनसे जैन दर्शन स्वतन्त्र है। सांख्यसे जैन दर्शनकी उत्पत्ति बतलाना मिथ्या है। जिस प्रकार इन दोनोंमें अनेक विषयोंमें साम्य है उसी प्रकार पार्थक्य भी है। एक ही बात लीजिये—सांख्य दर्शनमें आत्माको निर्विकार और निष्क्रिय माना है, परन्तु जैन दर्शन कहता है कि उसका तो स्वभाव ही परिपूर्णता प्राप्त करनेके लिये

यत्न करना है, इतना ही नहीं, बल्कि वह अनन्त क्रियाशक्तिका आधार भी है। संक्षेपमें कहे तो आर्हत दर्शन सुयुक्तिमूलक दर्शन है; युक्ति और न्याय पर ही वह प्रतिष्ठित है। वैदिक कर्मकाण्डके विरोधने इसे प्रबल शक्तिशाली बनाया। नास्तिक चार्वाक इसके सामने ठहर नहीं सकता। भारतवर्षके अन्य दर्शनोंके समान जैन दर्शनके भी अपने मूल सूत्र, तत्त्वविचार और मतामत आदि है।

जैन और वैशेषिक दर्शनमे भी इतना साम्य है कि, साधारण रीतिसे देखनेवालोंको इनमें विशेष भेद मालूम नहीं हो सकता। परमाणु, दिशा, काल, गति और आत्मा आदि तत्त्वविचारमें ये दोनो दर्शन लगभग समान है, परन्तु पार्थक्य देखे तो भी बहुत अधिक पाया जायगा। वैशेषिक दर्शन विविधतावादी होनेका दावा करता है, परन्तु ईश्वरकी सत्ता मानकर वह एकत्ववादकी ओर जाता है, किन्तु जैन दर्शन अपने विविध तत्त्वों पर अचल खडा है।

उपसंहारमें मै यह कह देना चाहता हूं कि, जैन दर्शन विशेष विशेष बातोंमें बौद्ध, चार्वाक, वेदान्त, सांख्य, पातंजल, न्याय और वैशेषिक दर्शनके समान प्रतीत होता है, तथापि वह एक स्वतन्त्र दर्शन है। वह अपनी उन्नति या उत्कर्षके लिये किसीका ऋणी नहीं है। अपने बहुविध तत्त्वोंके विषयमें वह पूर्णत: स्वतन्त्र है और उसका भी अपना व्यक्तित्व है।

जैन दृष्टिसे ईश्वर

ईश्वर क्या है ?

साधारण मनुष्य मानते है कि ग्रहों और नक्षत्रोंसे भरपूर इस अनन्त विश्वका कोई कर्ता होना आवश्यक है। इस कर्ताकी आज्ञासे सूर्य, चन्द्रका नियमित रूपसे उदय होता है. इसीके शासनके आधीन होकर वायु अविराम — बिना घडीभर विश्राम लिये — चलता है। इसीकी आज्ञासे वर्षा आती है, जिससे संताप शान्त होता है, पशु—पक्षी, तरु—लता, जीव—जन्तु नवजीवन प्राप्त करते है। कर्ता न हो तो यह सुखदु:खमय जगत ऐसा नित्यनूतन, विचित्र और नियमबद्ध रह ही नहीं सकता। यद्यपि दिखलाई नहीं देता तथापि लोग कहते है कि एक स्रष्टा तो होना ही चाहिये और वही ईश्वर है। केवल हिन्दू नहीं, ईसाही, मुसलमान और यहूदी भी ऐसे सृष्टिकर्ताको ईश्वर मानते है।

पाश्चात्य दर्शनमें 'स्रष्टावाद' 'थि-इज्म (Theism)' नामसे प्रसिद्ध है। स्रष्टावादके समर्थनमें उन लोगोंका कुछ ऐसा मत है कि, एक घड़ी लो, उसकी सुई और स्प्रिंग आदि देखो और जांच करो कि ये सब किस प्रकार नियमित रूपसे अपना कार्य करते है। इससे आपको विश्वास होगा कि ऐसा यन्त्र किसी बुद्धिमान व्यक्तिके बिना नहीं बन सकता। घडी देखकर आपको यह खयाल अवश्य आयगा कि इसका कोई कर्ता अवश्य है। अब आप असीम अनन्त आकाशकी तरफ देखिये, और विचार कीजिये की कितने ग्रह नक्षत्र अपनी

मर्यादाके भीतर व्यवस्थित रूपसे विचरते हैं। आपको कहीं भी गड़बड़ दिखलाई न देगी। अकाश ही क्यों, पृथ्वीके गर्भमें गहराईमें जाकर देखिये, एकके ऊपर दूसरी, दूसरे पर तीसरी, इस प्रकार कितनी तह ऊपर नीचे बिछी हुई है? यह पृथ्वी एक समय भाफके पिंडके समान थी। इस पर न जाने कितने संस्कार होनेके पश्चात् यह हमारे जैसे मनुष्यों और अन्य असंख्य प्राणियोंके रहने योग्य बनी है। वृक्ष, पत्र, फूल, फलादिका विकास देखिये· इस क्रमविकासकी अविच्छिन्न धारामें आपको किसी परम बुद्धिशालीका हाथ प्रतीत नहीं होता? और सब बातें एक ओर रहने दीजिये, केवल शरीरके विषयमें ही विचार कीजिये। पशु-पक्षियोंके अंग प्रत्यंगोंकी रचनामें कितनी चातुरी और दूरदृष्टिसे काम लिया गया है! मनुष्योंके अङ्गोपाङ्गकी रचना कितनी अद्भुत है! पाश्चात्य स्रष्टावादी लोग इस प्रकार अनेकों प्रमाण देकर कहते हैं कि एक बुद्धिमान कर्ता अवश्य ही होना चाहिये। वही ईश्वर है। उसकी अनन्त करुणा जगत्सृष्टि रूपमें ही प्रकाशित हो रही है।

प्राचीन कालमें भारतमें भी कर्तावादके पक्षमें लगभग ऐसी ही युक्तियां दी जाती थीं। नैयायिक इस वादके बड़े परिपोषक माने जाते हैं। शंकरमिश्र कहते हैं—

एवं कर्मापि कार्यमपीश्वरे लिङ्गं तथाहि।
क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवदिति॥

अर्थात् घडा एक कार्य-पदार्थ है, कुम्भकार इसका कर्ता है। इसी प्रकार पृथ्वी आदि कार्य है। इनका भी एक कर्ता—ईश्वर है।

न्याय-मतकी व्याख्या करते हुवे एक आचार्य कहते हैं—

"विवादपदभूतं भूभूधरादि बुद्धिमद्धिधेयं, यतो निमित्ताधीनात्मलाभं, यद् निमित्ताधीनात्मलाभं तद् बुद्धिमद्धिधेयं, यथा मन्दिरं, तथा पुनरेतत्, तेन तथा—"

अर्थात् पृथ्वी, पर्वतादि कार्य—पदार्थ है, ये निमित्तवश उत्पन्न होते हैः निमित्तवश उत्पन्न होते हैं इस लिये इनका कोई कर्ता होना चाहिये। उदाहरणार्थ मन्दिरको लीजिये। यह मानना ही पड़ेगा कि मन्दिरका कर्ता कोई एक बुद्धिमान व्यक्ति अवश्य होगा। इसी प्रकार यह भी मानना पड़ता है कि पृथ्वी पर्वतादिका भी एक बुद्धिमान् स्रष्टा है।

न्यायाचार्योंके मतानुसार पृथ्वी पर्वतादि कार्यपदार्थ है, क्यों कि वे सावयव हैं अर्थात् छोटे छोटे परमाणुओंकी रचना है। परमाणु स्वयं तो अचेतन है, उनका संयोजक चेतनाविशिष्ट कोई बुद्धिमान् कर्ता होना ही चाहिये। वह कर्ता ही ईश्वर है। ईश्वर करुणावश होकर सृष्टिकी रचना करता है। संक्षेपमें न्यायाचार्योंका यह मत है।

'थी-ईज्म' अथवा पाश्चात्य स्रष्टावादके विरुद्ध अनेकों प्रमाण दिये जा सकते है। बहुतसे दार्शनिक कहते है कि जगतकी उत्पत्तिमें बुद्धिमत्ताकी तो कोई बात ही नहीं है। ग्रह-नक्षत्रादिमें जो एक प्रकारकी व्यवस्था देखी जाती है वह तो जड़ पदार्थ सम्बन्धी नियमका ही फल है; यह बुद्धिशाली ईश्वरकी व्यवस्था नहीं है। पृथ्वीके धरातलोंमें भी कहीं किसी कारीगरकी करामत नहीं है। इसमें भी जड पदार्थ सम्बन्धी नियम ही मुख्य काम करते है। जीव-जन्तुकी उत्पत्तिमें भी जड़ प्रकृतिकी लीला ही कार्य करती है, बुद्धि या कलाका इसमें कोई काम नहीं है। प्राणियोंकी शरीररचनामें भी क्रमविकासके अति-

रिक्त और कुछ नहीं है। आज भी जीवोंको कई अंगप्रत्यंग व्यर्थ ही वहन करने पडते हैं, इतना ही नहीं, वेही अंग अनेक वार घातक भी सिद्ध होते हैं। ध्यानपूर्वक संसारकी विचित्रता देखो तो, न जाने रोज कितने जीव व्यर्थ ही मर जाते हैं, कितनों ही को असमय अपनी जीवनलीला संवरण करनी पडती है। यह सब देखनेके वाद कितने ही दार्शनिकोंने दयावादको तिलाञ्जलि दे दी है। वे कहते हैं कि, ईश्वरको सृष्टिरचनाकी आवश्यकता प्रतीत हुई यह कहकर तो हम उसे असीमसे सीमित, मर्यादित और छोटा वना देते हैं। ईश्वर करुणामय है, यह वात मानने योग्य नहीं है। समस्त संसार खूंदमारो —खोजडालो, कहीं करुणाका नाम नहीं मिलेगा। जगतमें कितने रोग दुःख देते हैं? कितनी अनाथ विधवाएं ठंडी आहें भरती हैं? कितने मावाप अपनी सन्तानोंकी अकाल मृत्यु पर विलखते हैं? कितने भूकम्प आते हैं? कितने जुल्मोसितम होते हैं? यह सब देखकर किसी सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेवालेको कहीं भी ईश्वरकी करुणाका लेशमात्र भी न मिलेगा।

न्याय दर्शन-निरूपित ईश्वरवादकी विरुद्ध जैनाचार्योंने शंका की—इन्होंने प्रश्न किया—कि, पृथ्वी आदिको सावयव क्यों मानें? द्रव्यसे ये अनादि हैं यह तो आप नैयायिक भी मानते हैं, पर्यायसे यह अवश्य अनित्य अथवा उत्पत्ति-विनाश-शील है; परन्तु इतने ही से यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि इसका कोई निर्माता—कर्ता ईश्वर है? आत्माके भी विविध पर्याय हैं और वह अवस्थान्तरको भी प्राप्त होता है, तथापि नैयायिक आत्माको कार्य—पदार्थ नहीं मानते। अब यदि कहा जाय कि ईश्वर पंचभूतके पुतलेसे भिन्न प्रकारका Transcendent

Being (सर्वश्रेष्ठ) है तो उसका और परमाणुका संबन्ध ही किस प्रकार संभव हो सकता है? वृक्षसे शाखाएं निकलती है और उनमें पत्र पुष्प आते है, इसमें बुद्धिमानीकी क्या बात है? पाश्चात्य पण्डितोकी भांति जैन भी कहते है कि ईश्वरको सृष्टिकर्ता माननेसे वह भी हमारे जैसा अनुक्त—ससीम पुरुष Anthropomorphic बन जाता है। जैनाचार्य प्रभाचन्द्रने कहा है—

"ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारता हि कर्तृता न सशरीरेतरता इत्यप्यसंगतं, शरीराभावे तदाधारत्वस्याप्यसंभवात्,मुक्तात्मवत्-"

अर्थात् यदि ईश्वरको जगत्कर्ता माने तो उसे शरीरधारी मानना पड़ेगा, क्यों कि शरीरके विना जगतके समान बृहद् सावयव पदार्थ बन ही नहीं सकता। नैयायिक कहते है कि शरीरकी ऐसी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, जगत्‌रचना संबन्धी ईश्वरके ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न हीं पर्याप्त है। जैनोंके पास इसका भी उत्तर है। वे कहते है कि शरीर ही न हो तो ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न कहां रहे? मुक्तात्माके समान ईश्वर यदि शरीर रहित हो तो उसमें प्रयत्नका होना संभव नहीं है। ऐसा ईश्वर संसारकी रचना नहीं कर सकता। निष्कर्ष यह हुआ कि, ईश्वरको सृष्टिकर्ता मान लेनेसे उसे शरीरधारी मानना आवश्यक है और वह शरीरधारी हुवा तो बस हमारे जैसा मर्यादित और छोटा हो जायगा। ईश्वरने करुणासे प्रेरित होकर इस सृष्टिकी रचना की है, इस मतके सम्बन्धमे पाश्चात्य निरीश्वरवादियोंके समान प्रमेयकमलमार्तण्डकार कहते हैं—

"न हि करुणावतां यातनाशरीरोत्पादकत्वेन प्राणिनां दुःखोत्पादकत्वं युक्तम्—"

ईश्वर करुणामय है तो उसने ऐसा शरीर क्यों बनाया है कि जिससे जीवको ऐसी ऐसी यातनाएं भोगनी पडे ?

'मनुष्यको संसारमें बहुविध दुःख भोगने पड़ते है, इसके लिये सृष्टिकर्ता ईश्वर स्वयं उत्तरदाता है' – इस आक्षेपसे ईश्वरको मुक्त करनेके लिये थिईस्ट (ईश्वरवादी) कहते है कि, मनुष्य जैसा बोता है वैसा काटता है; मनुष्य स्वयं ही अपने दुःखके लिये उत्तरदाता है। ईश्वर तो मनुष्योंकि सुखके लिये निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि ईश्वरीय व्यवस्थासे सदैव प्राणीको सुख ही मिले। मनुष्य अपने लोभ, छलकपट आदिके कारण दुःख, रोग, शोकमें फंस जाए तो ईश्वर क्या करें ! ईश्वरको बीचमें फंसानेकी आवस्यकता नहीं है। इस बचावको यथार्थ नहीं कहा जा सकता। क्यों कि हम अनेक वार सज्जन पुरुषको दुःख और शोक–संतापके भारी भारसे दबा हुवा देखते हैं। प्राचीन यहूदी कहते थे कि, ईस्वरने तो मनुष्योंके लिये साधारणतः सुखकी ही व्यवस्था की थी, परन्तु मनुष्य सीधे रास्ते पर न चला। यह उल्टे रास्ते पर चला इसी लिये बाग-ए-अदनसे बहिष्कृत किया गया। इस अत्यन्त प्राचीन कालके पापका दंड मनुष्यजाति आज भोग रही है। इसी पापके परिणाम स्वरूप मनुष्य वंशपरम्परासे रोग, शोक, मृत्यु आदि यन्त्रणाएं भोग रहा है। कैसी विचित्र बात है ? आदम और ईवके पापकी सजा, आदि-कालसे लेकर इस समय तक उनके वंशजोंको भोगनी पड़ती है, इसमें ईस्वरकी करुणा कहां रही ? भारतवर्ष मनुष्य जातिके दुःख, कष्ट, जन्म और जरा मृत्युके संबन्धमे जो स्पष्टीकरण करता है वह कुछ युक्तिसंगत

है। नैयायिक आदि भारतीय दार्शनिक मानते है कि सुखदुःख जीवके अपने कर्मोंका परिणाम है। कर्मफल अथवा अदृष्टके कारण जीव जन्म जन्मान्तरमें भोगायतन देहादि प्राप्त करके कर्मानुसार सुखदुःखादि भोगता है। ईश्वर करुणामय है तथापि जीवको अपने अदृष्टके कारण दुःख भोगने पड़ते है। नैयायिक इस विषयमें जो दलील देते है वह समझमें आने योग्य है। वे कहते है कि महाभूतदिसे देह बनती है। परन्तु वह देह किस प्रकारके भोगोंके लिये अनुकूल हो, यह बात अदृष्ट पर निर्भर है। महाभूत और अदृष्ट दोनों अचेतन है, अत एव महाभूत और अदृष्टकी सहायताके लिये, जीवको उसके कर्मका बदला देनेके वास्ते, एक सचेतन कर्ताकी आवश्यकता है। न्यायाचार्योंके मतानुसार वह कर्ता ही ईश्वर है।

नैयायिकोंकी इस दलीलका जैन उत्तर देते है कि—ईश्वर करुणामय होने पर भी यदि जीवके दुःख दूर न कर सके, भोगायतन देहादिका आधार यदि अदृष्ट पर ही हो, तो फिर ईश्वर माननेकी आवश्यकता ही क्या रहती है? जीव स्वकृत कर्मोंके कारण अनादि कालसे इस संसारमें भटकता है, विविध देह धारण करके कर्मफल भोगता है, बस इतना कह देनेसे ही सब मामला निबट जाता है। यदि यह कहा जाय कि अचेतन परमाणुओंसे सचेतन ईश्वरकी सहायताके बिना किस प्रकार देह धारण की जा सकती है, तो जैन इसके उत्तरमें कहते है कि कर्म पुद्गल है अर्थात् परमाणुओंका यह स्वभाव है कि जीवके रागद्वेषानुसार कर्म-पुद्गल स्वयं ही जीवमें आश्रय प्राप्त करते है। और इसीसे भोगायतन देहादि होते हैं। सारांशतः जैन सिद्धान्तानुसार जगत्स्रष्टा नहीं है;

ईश्वर कर्ता नहीं हो सकता।

तब फिर ईश्वरको क्या समझे?

पाश्चात्य विद्वानोंमें कुछ ऐसे दार्शनिक हैं जो यह मानते हैं कि स्रष्टा और जीवको भिन्न माननेसे स्रष्टा छोटा बन जाता है, अत एव वे ईश्वरके अतिरिक्त अन्य किसी भी सत्ता या सत्त्वको नहीं मानते। ये दार्शनिक "पान-थि-इस्ट" नामसे प्रसिद्ध है। प्राचीन ग्रीक दार्शनिक पार्मोनेडिस तथा ईलियाटिक संप्रदायके दर्शनमें 'पान-थी-इज्म' का आभास पाया जाता है। प्लेटोके सिद्धान्तोंको एरिस्टोटलने जो नवीन रूप दिया है उस मेंभी यह 'पान थी-इज्म' अथवा 'विश्वदेववाद' भरा है। मध्य युगमें आभारोइस बहुत प्रसिद्ध 'विश्वदेववादी' था। तत्त्वदर्शी-शिरोमणि स्पिनोज़ा वर्तमान योरुपके विश्वदेववादका बड़ा प्रवर्तक माना जाता है। सुप्रसिद्ध हीगेल, शोपनहार आदि जर्मन दार्शनिक 'पान-थि इस्ट' माने जाते हैं। विश्वदेववादका मूल सूत्र यह है कि जीव या अजीव, जगतके समस्त पदार्थ एकान्त सत् हैं और सत्मात्र ईश्वरके विकास एवं परिणति स्वरूप है; ईश्वर सिवाय और कुछ है ही नहीं। पृथक् पृथक् जीव तुम्हें भले ही दिखलाई दें, परन्तु मूलमें तो एक ही हैं। ईश्वरकी सत्ताके कारण ही सब सत्तावान हैं, ईश्वरके प्राणसे ही सब प्राणवान् हैं। बस, एक ईश्वर ही ईश्वर है, और कुछ है ही नहीं। जगत् पृथक् है, एक अलग सत्ता है यह केवल भ्रम है।

भारतवर्षमें भी अति प्राचीनकालसे अद्वैतवादी इसी प्रकार जगतके पदार्थसमूहकी सत्ता तथा विविधताकी अवगणना करके "ब्रह्म सत्यं

जगन्मिथ्या' का मन्त्र सुना रहे हैं। मायावाद ब्रह्माद्वैतवादका रूपान्तरमात्र है। इसके अनुसार ब्रह्म ही अखण्ड अद्वितीय सत् है; सत्तामात्र है"। जीव अजीव ये सब असत् हैं। केवल एक ब्रह्म ही सत् है। यदि कोई कहे "मै हूं, वह है, तुम हो" तो यह सब अविद्या-विलास है। वास्तवमें तो न तो 'मै' ही कुछ है, न 'तुम' है और न 'वह' ही है। यदि कुछ है तो बस 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्म ही है। यह नित्य-निरंजन ब्रह्म मायाके प्रतापसे ब्रह्माण्डके 'ईश्वर' रूपसे प्रतीत होता है।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।

और यही नित्य-निरंजन, अद्वितीय ब्रह्म, अविद्याके कारण विविध नाम तथा रूपवाला होकर वहु जीव रूपमें प्रतीत होता है। वास्तवमें तो केवल ब्रह्म ही है। मायाके आवरणमेंसे इसको देखते है तो यह ईश्वर प्रतीत होता है; और अविद्याके अन्धकारमें इसे देखते है तो यह 'एकमेवाद्वितीयम्'-अनन्तविध और अनन्तसंख्यक जीवरूप दीखता है। जीव स्वयं ही ईश्वर है, जीव स्वयं ही ब्रह्म है।

पान-थि-इज्मके युक्तिवादके दोष वहुतसे दार्शनिकोंने खोज निकाले हैं। जगतकी वस्तुओं और भावनाओंका स्वरूप निर्णय करना तत्वविद्याका उद्देश्य है। इस प्रकारके प्रयत्नोंसे दर्शनका जन्म होता है। विश्वदेववाद जगतकी प्रकृतिका निर्णय करनेके वदले जगतको ही समूल उखाड़ देता है। इसकी की हुई संसारकी व्याख्या कितनी विचित्र है। यह तो संसारकी वस्तुओं और भावनाओंकी सत्यताका स्वीकार करनेसे

भी इन्कार करता है। यह बात कौन मानेगा? जगतके इतने पदार्थोंमें किसी प्रकारका रूपभेद नहीं है, सब ही किसी एक महासत्ता (Pure Being) के विकासमात्र है, सब एक है—यह सिद्धान्त क्या प्रत्यक्षविरुद्ध सा प्रतीत नहीं होता? जीवोंमें कुछ भेद न हो, वस्तुतः समस्त जीव किसी एक महासत्ताके विकासमात्र हों तो फिर 'स्वाधीन इच्छा' (Freedom of will) तो कुछ वस्तु ही न रही? तब तो जीव जो अच्छे बुरे कर्म करेगा, उसके लिये कोई उत्तरदाता ही न होगा। और जब पाप पुण्य ही न रहा तो फिर मुक्तिकी बात ही क्या की जाय?

प्राचीन कालमें भारतमे जैनाचार्योंने ब्रह्माद्वैतवादियोंको कुछ ऐसे ही उत्कट उत्तर दिये है। वे कहते है—"यदि आप जगतको एकान्त असत् अथवा काल्पनिक सत्ताके समान मानते हों तो फिर आपकी अपनी सत्ता भी नहीं रहती। आप जो कहते है कि जगत् सत् पदार्थ जैसा केवल दीखता ही है, वास्तव में नहीं है, इसके यथेष्ट प्रमाण आप नहीं दे सकते, अत एव आपका कहना माना नहीं जा सकता। जगत् सत् है यह बात तो प्रत्यक्ष ज्ञानसे भी सिद्ध होती है। जगतकी अनेकानेक वस्तुएं और विविधता आप प्रत्यक्ष आंखोंसे देख सकते है। आंखसे दीखने पर भी न माना जाय, यह बात आप किस आधार पर कहते हैं? ब्रह्मरूप आत्मा यदि सत् पदार्थ हो तो ब्रह्मके समान सद्रूप प्रतीयमान भावसमूहको असत् क्यो मानें?" पाश्चात्य दार्शनिकोंके समान जैनाचार्य भी कहते थे कि, यदि जीवकी विविधता स्वीकार न करें तो फिर मुक्तिका प्रश्न हल नहीं हो सकता। क्यों कि

अगर समस्त जीव वस्तुतः एकान्त अभिन्न हों तो एक जीवके सुखमें सब जीवोंको सुखी होना चाहिये। और इसी प्रकार एक जीवके दुःखमें समस्त जीवोंको उतना ही दुःख होना चाहिये। परन्तु न तो ऐसा होते हुवे देखते ही है और न अनुभव ही करते है। यदि ऐसा ही होता तो एक जीवके मोक्ष प्राप्त करने पर सब जीव मोक्षको प्राप्त हो जाएं। अथवा जब तक एक भी जीव बन्धनमें पड़ा हो तब तक अन्य जीव भी मुक्त नहीं हो सकते। जैन कहते है कि ब्रह्माद्वैत मत स्वीकार कर लिया जाय तो बन्ध, मोक्ष और धर्माधर्म आदि केवल अर्थहीन शब्द रह जाएं। जीव स्वयं ही ब्रह्म हो तो फिर बन्ध, मोक्ष या धर्माधर्म आदि कुछ भी नहीं रहता।

बन्ध, मोक्ष तथा धर्माधर्मके विषयमें अद्वैतवादी कहना चाहते हैं कि, जीवोमें परस्पर पारमार्थिक प्रभेद न सही, परन्तु व्यवहारतः एक जीव दूसरे जीवसे भिन्न है, अत एव एक जीवके मोक्ष जाने पर दूसरे जीव अपनी अपनी बन्धन दशाका उपभोग करते है। पारमार्थिक दृष्टिसे शुद्ध, मुक्त ब्रह्मके साथ जीवका अभेद होने पर भी वह व्यावहारिक दृष्टिसे ब्रह्मसे भिन्न और अमुक्त है। शास्त्रोंमें वर्णित विधि नियम पालन करनेसे बन्धनग्रस्त जीव ब्रह्मके सान्निध्यमें पहुंच सकता है, यही हमारे कथनका तात्पर्य है। इस प्रकार अद्वैताचार्य व्यवहारापेक्षासे बंध और मोक्षकी वास्तिकता प्रतिपादित करते हैं। यही नहीं, अपितु शास्त्रोक्त आचार, नियम, विधि आदिकी आवश्कता भी बतलाते है। इसके उत्तरमें जैनाचार्य कहते है कि, वेदान्ती व्यवहारदृष्टिसे जो बात कहते हैं उसीसे यह तो सहज ही सिद्ध हो जाता है कि वस्तुतः जीव असंख्य और

परस्पर भिन्न हैं। वे अनादि कालसे बंधनग्रस्त है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रके बिना जीवकी मुक्ति नहीं हो सकती। एक प्रकारसे जीव की विविधता, अनादिबद्धता और मुक्ति सम्बन्धी शक्यता इन अद्वैत वादियोंको भी स्वीकार करनी पड़ती है। परन्तु वे यह कहकर अलग हो जाते है कि यह सब व्यवहारदृष्टिसे ही होता है। जैन पण्डित कहते हैं -- " जीव बहुत हैं, अनादिबद्ध हैं और मुक्ति प्राप्त करनेकी उनमें योग्यता है; यह स्वीकार करनेके पश्चात् तो कुछ विशेष कहनेकी बात ही नहीं रहती। ब्रह्म एक है, अद्वितीय है, यह सब तो वागाडम्बर है, क्यों कि इसके समर्थनमें आप कोई अच्छी युक्ति नहीं दे सकते।"

सारांशत' जैन दृष्टिमें एक अद्वितीय सत्य स्वरूप कोई ब्रह्म नहीं है और न ही ईश्वर ब्रह्म है।

तब ईश्वर क्या है?

मध्य युगमें, युरोपमें ईसाई लोग ईश्वरको अधिकांशमें 'पूर्ण सत्त्व' (Perfect Being) अथवा जगत्पिता स्वरूप बतलाते थे। इन 'पूर्णसत्त्व' वादियोका युक्तिवाद ontological Argument नामसे प्रसिद्ध है। सेट ओगस्टिन कहता है " मनुष्य -- बन्धन दशा-युक्त मनुष्य, अल्पज्ञ तथा मोहके वशीभूत मनुष्य -- पूर्ण सत्यकी धारणा कर सके यह किस प्रकार संभवित है? जगतके पीछे सत्यके पूर्ण आदर्शरूप, आधाररूप 'पूर्ण सत्त्व' है, इसी लिये पामर मनुष्य सत्यका साक्षात्कार कर सकता है। यह 'पूर्ण सत्त्व' ही परमेश्वर है।"

एक अन्य दर्शनकार आन्सेल्म भी इसी प्रकार कहता है -- " सत्

पदार्थ-समूहमें एक क्रम दिखलाई देता है। व्यक्तिसे जाति और जातियोंमें भी उच्च, उच्चतर, उच्चतम-इस प्रकार तारतम्य देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि कोई एक परिपूर्णतम सत्त्व है, जो सभी जातियों पर अधिकार रखता है।" इस युक्तिके आधार पर यह दर्शनकार 'जातिशिरोमणि, परिपूर्णतम सत्त्व'को ईश्वर बतलाता है। यह असत् हो तो फिर 'पूर्णतम सत्त्व' कुछ हो ही नहीं सकता। कारण कि 'सत्' न हो तो फिर 'पूर्णता'का होना ही कब सम्भव हो सकता है।

वर्तमान युगके आरम्भमे दार्शनिक डेकार्टने भी न्यूनाधिक अंशमें 'पूर्णसत्त्ववाद'का ही प्रचार किया है। वह कहता है कि, मनुष्यकी विचारधारामें पूर्ण सत्त्व सम्बन्धी धारणाको स्थान है। यह धारणा कहांसे आई? मनुष्य स्वयं तो अपूर्ण है अत एव वह स्वयं पूर्ण सत्त्वकी धारणाका उत्पादक नहीं हो सकता। अत एव एक परिपूर्ण सत्त्व है, इसी लिये मनुष्यके मनमें सदैव ऐसी धारणा वर्तमान रहती है। यह परिपूर्ण सत्त्व ही ईश्वर है।

अन्य कुछ दार्शनिकोंने भी किसी न किसी रूपमें इसी विचारको पुष्ट किया है। सब यही कहते है कि मनुष्य अपूर्ण है, पामर है, सीमा-बद्ध है, अज्ञानान्धकारमें भटकता है, इन सबसे पर एक महान् महिमामय ईश्वर है, जो हर प्रकारसे पूर्ण, महान्, असीम और ज्ञानरूप है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन कालमें भारतमें "पूर्ण-सत्त्ववाद"का प्रचार था। पुण्यभूमि भारतवर्ष अनेक स्वतन्त्र विचारकोंकी जन्मभूमि है। यह सर्वथा सम्भव है कि अति प्राचीन कालमें यहां "पूर्णसत्त्ववाद" जैसे मतमतान्तरोका जन्म और उनका पालन

पोषण हुवा हो। योगदर्शनकार स्पष्ट ही कहता हैं—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्वबीजम्। स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥"

—समाधिवाद २४—२६।

अर्थात् एक ऐसा महापुरुष है जो क्लेश, कर्म, कर्मफल तथा प्रवृत्ति आदिसे सर्वथा अस्पृष्ट है। वही ईश्वर है। पूर्ण सर्वज्ञत्वबीज उसमें विद्यमान है, वह कालसे भी अनवच्छिन्न है और पूर्वाचार्योंका भी गुरु है।" भारतीय 'पूर्णसत्त्ववाद' का यह स्वरूप है।

पतञ्जलिका मत है कि श्रेष्ठमें श्रेष्ठ, महानमें महान् और प्राज्ञमें भी प्राज्ञ जो महापुरुष है वही ईश्वर है। वृत्तिकार भोजराज कहता है—

"दृष्टा ह्यल्पत्वमहत्त्वादीनां धर्माणां सातिशयानां काष्ठाप्राप्तिः। यथा परमाणावल्पत्वस्य, आकाशे महत्त्वस्य। एवं ज्ञानादयोऽपि चित्तधर्मास्तारतम्येन परिदृश्यमानाः केचिन्निरतिशयतामापादयन्ति। यत्र चैते निरतिशयाः स ईश्वरः।

अर्थात् अल्पत्व, महत्त्व आदि धर्मोंमें तारतम्य देखा जाता है। परमाणु सूक्ष्ममें सूक्ष्म और आकाश महानमें महान् है। इसी प्रकार ज्ञानादि चित्तधर्मोंमें भी तारतम्य देखा जाता है। अत एक कोई एक ऐसा सत्त्व है कि जहां उत्कर्षकी अन्तिम सीमा आ जाती है। जिस महापुरुषमें सर्व ज्ञानादि गुण उत्कर्षकी पराकाष्ठाको पहुंचे हुवे होते हैं वही ईश्वर है।

पाश्चात्य दार्शनिक महाबुद्धिशाली कांट 'पूर्णसत्त्ववाद' के दोष इस प्रकार बतलाते है—" आपके मतमें पूर्णसत्त्व सम्बन्धी धारणा उत्पन्न

हो तो कोई हर्ज नहीं, अथवा अनुमान आदिकी सहायतासे आप पूर्ण-सत्त्वके सिद्धान्तको स्वीकार करें, यह भी ठीक है, परन्तु वास्तविक जगतमें सचमुच कोई व्यक्ति पूर्णसत्त्ववाली है—पुरुषप्रधान है—यह किस प्रकार कहा जा सकता है? आपकी मनकी धारणा कल्पनामात्र नहीं है, यह आप कैसे कह सकते है? आपके पास प्रमाण या युक्ति क्या है?"

प्राचीन भारतमें प्रधानतः योगदर्शन-कथित ईस्वरवादके सामने इसी प्रकारका विरोध उत्पन्न हुवा था। भोजवृत्तिमें इसका आभास पाया जाता है—

"यद्यपि सामान्यमात्रेऽनुमानस्य पर्यवसितत्वात् न विशेषावगतिः संभवति, तथापि शास्त्रादस्य सर्वज्ञत्वादयो विशेषा अवगन्तव्याः।"

"ज्ञानादिके तारतम्यसे निरतिशय ज्ञानके आधाररूप ईस्वरका जो अनुमान किया जाता है वह एक निर्विशेष सामान्यकी उपलब्धिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ईस्वरके किसी विशेष गुणका परिचय नहीं मिलता।" पास्चात्य दार्शनिक कान्ट भी यही वात कहता है। भोज-राज मानता है कि शास्त्रोंकी सहायतासे ईस्वर सम्बन्धी विशेष ज्ञान प्राप्त हो सकता है। कान्ट भी इतनी वात तो स्वीकार करता ही है।

सांख्य और योगदर्शनमें मौलिक भेद नहीं है। तथापि कपिल मुनि, पतञ्जलिके ईस्वरवादको स्वीकार नहीं करते। वे स्पष्ट कहते हैं—

"ईस्वरासिद्धेः।" विषयाध्याय ९०।

प्रमाणोंसे ईस्वर सिद्ध नहीं हो सकता।

पतञ्जलिके समान जैनाचार्य भी एक अद्वितीय ईस्वरका स्वीकार

नहीं करते। तब ईश्वर है क्या ?

कान्टके आक्षेपका उत्तर देते हुवे हीगल आदि दार्शनिक कहते हैं कि, विज्ञानके साथ यथार्थ–प्रकृत सत्ताका विरोध मानना ठीक नहीं है। Real is rational और Rational is real: जो विज्ञानदृष्टिसे स्पष्ट समझमे आने योग्य है वह वस्तुतः सत्य है। अब यदि पूर्ण सत्त्व, सर्वज्ञ विज्ञान दृष्टिसे समझमें आता हो तो, सर्वज्ञ पुरुष वस्तुत. हो सकता है, यह मानना ही पड़ेगा। ऑगस्टिन भी कहता है " असत्य, केवल सत्यका विकारमात्र है। असत्य ही सत्यस्वरूप ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करता है। मनुष्यका ज्ञान मर्यादित है परन्तु मर्यादा ही सर्वज्ञत्वको सिद्ध करती है "।

ईश्वरके सम्बन्धमें जनोंका कहना भी इसी मतलबका है। अनादि कालके कर्मबन्धनके योगसे जीव अल्पज्ञ है। ज्ञानावरणीय कर्मोंके कारण इसका ज्ञान ढका रहता है। इस आवरणके दूर होते ही जीव अनन्त ज्ञानका अधिकारी हो जाता है–सर्वज्ञ हो जाता है। और जो महापुरुष इस कर्मबन्धको तोडकर मोक्षको प्राप्त हुवे है वे सब सर्वज्ञ थे–है। कर्म जीवके मूल स्वभावका बाधक है। कर्मबन्धनके कारण ही जीव अल्पज्ञ रहता है। यह बन्धन टूटते ही जीव अपनी स्वाभाविक ज्ञान-दशा प्राप्त कर लेता है। सारांश यह है कि जीवोंका बंधन, जीवोंका मर्यादित ज्ञान यह सिद्ध करता है कि जीवोंकी मुक्ति और सर्वज्ञता संभव है।

जीवोंकी संख्या असीम है। प्रत्येक जीव कर्मबद्ध और अल्पज्ञ है। जिस क्षण इस बन्धनदशा और अल्पज्ञतासे छूटे उसी दम वह मुक्त

और सर्वज्ञ हो जाय। यदि यह बात समझमें आती हो तो निश्चय जानना चाहिये कि एक ईश्वर सर्वतो मुक्त–सर्वज्ञ है, ऐसा नहीं अपितु प्रत्येक मुक्त जीव सर्वज्ञत्वका अधिकारी है यही सिद्धान्त युक्तियुक्त है।

मुक्तिपद-प्राप्त जीव सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ ही ईश्वर है। जैनाचार्योंका यही मत है।

मीमांसक इस सर्वज्ञत्ववादका इन्कार करते है। वे कहते हैं कि सर्वज्ञता असंभव वस्तु है–

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत्॥

न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः।
न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्पते॥

न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते।
न चानुवादितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः॥

अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ?॥

अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते।
प्रकल्पयेत् कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः॥

सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता।
कथं तदुभयं सिद्ध्येत् सिद्धमूलान्तरादृते॥

असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात्।
सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात् किन्न जानते॥

सर्वज्ञसदृशं कश्चिद्यदि पश्येम संप्रति।
उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम्॥

उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्मोऽधर्मादिगोचरः।
अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञं यदि नाभवत्॥
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसम्भवः।
उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात्॥
ये तु मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम्।
त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः॥

भावार्थ—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति प्रमाण-पञ्चकसे सर्वज्ञका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। प्रत्यक्षसे तो केवल निकट-वर्ती पदार्थ ही देखे जाते हैं। अनादि, अनन्त, अतीत, अनागत, वर्तमान सूक्ष्मादि स्वभावविशिष्ट समस्त पदार्थ किस प्रकार प्रत्यक्ष हो सकते हैं? अब जब कि समस्त पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्ष रूपसे होना संभव नहीं है तब सर्वज्ञता रूप ज्ञान और सर्वज्ञ पुरुष भी किस प्रकार प्रत्यक्षके विषय हो सकते हैं। जैसे प्रत्यक्ष द्वारा सर्वज्ञताका बोध नहीं हो सकता उसी प्रकार सर्वज्ञकी भी उपलब्धि असम्भव है। अनुमानसे भी सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्यों कि अनुमान प्रमाणका आधार हेतु तथा साध्यके अविनाभाव संबन्ध पर है। यहां सर्वज्ञ साध्य है। इस साध्यके साथ किसी भी हेतुका ऐसा संबन्ध नहीं दीखता कि जिससे सर्वज्ञका अनुमान हो सके। अत एव अनुमानसे भी सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती। सर्वज्ञको सिद्ध करनेके लिये आगम-प्रमाण काममें नहीं आ सकता, क्यों कि प्रथम प्रश्न ही यह होता है कि सर्वज्ञ-प्रतिपदिक आगमको आप नित्य मानेंगे या अनित्य? नित्य आगम-प्रमाण एक भी नहीं है। और यदि कोई हों तो वह अप्रमाण है, क्यों कि "**अग्निष्टोमेन यजेत**" इत्यादि विधिरूप

वचन ही प्रमाणरूप है। अब यदि यह कहा जाय कि सर्वज्ञ-प्रतिपादक आगम अनित्य है तो दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इन अनित्य आगमोंका प्रणेता कौन है? यदि इन आगमोका प्रणेता सर्वज्ञ ही हो तो ये प्रमाण अन्योन्याश्रय दोषसे दूषित हो जाते है। सर्वज्ञने आगम-रचना की और इन्हीं आगमोंको सर्वज्ञके प्रमाणस्वरूप माना जाय, यह अन्योन्याश्रय दोष है। और यदि यह कहो कि किसी असर्वज्ञ पुरुषने आगम रचना की है तो फिर इसका कुछ मूल्य ही नहीं रहता। निष्कर्ष यह कि सर्वज्ञकी सिद्धि न तो आगम ही से होती है और न उपमान ही से सर्वज्ञता सिद्ध होती है, क्यों कि सादृश्य ज्ञानसे ही उपमानकी उत्पत्ति होती है। और सर्वज्ञके समान अन्य कोई वस्तु दिखलाई नहीं देती अत एव उपमानके द्वारा सर्वज्ञकी सिद्धि होना असम्भव है। अर्थापत्तिसे भी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती, क्यों कि सर्वज्ञको स्वीकार न करनेसे किसी ज्ञात पथार्थको अस्वीकार करना नहीं पड़ता।

यह तर्क करनेकी भी आवश्यकता नहीं है कि, यदि सर्वज्ञता न हो तो फिर बुद्ध और मनुके समान धर्मोपदेशक कैसे हो सकते हैं? इसके उत्तरमें मीमांसक कहते है कि, वेद ही सब धर्मोंका मूल है। बुद्धने धर्माधर्मका उपदेश दिया सही, परन्तु वह अवेदज्ञ था इस लिये उस उपदेशमें व्यामोहके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस उपदेश-कत्वसे उसका सर्वज्ञ होना सिद्ध नहीं होता। मनुने धर्माधर्म विषयक उपदेश किया है, परन्तु वह सर्वज्ञ नहीं था। बुद्ध और मनुके उपदेशमें सर्वज्ञताकी कोई बात नहीं दिखलाई देती।

कोई ऐसा कहने चाहे कि वर्तमान कालमें सर्वज्ञताका प्रतिपादन न

हो सके तो इससे क्या हुवा, भूत या भविष्य कालमें कभी सर्वज्ञता अवश्य सिद्ध हो सकती है। मीमांसकोंके पास इसका भी उत्तर है। वे कहते है कि, भूत या भविष्यसे यदि कोई सर्वज्ञता प्राप्त करनेवाला होगा तो वह भी हमारे ही समान ज्ञान और इन्द्रियोंका अधिकारी होगा न? जो वस्तु आज हमारे लिये असंभव है वह भूतकालमें या भविष्यमें भी अन्य के लिये कैसे सम्भव हो सकती है? मीमांसक यह भी कहते हैं कि, यदि सर्वज्ञका अर्थ पदार्थमात्रका ज्ञाता हो तो यह बात भी मानने योग्य नहीं है। यदि यह कह जाय कि वह समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष रूपसे जान लेता है तो धर्मादि सूक्ष्म विषय उसके ज्ञानके बाहर ही रहेंगे। तो फिर हममें और सर्वज्ञमें भेद क्या रहा? एक और बात भी याद रखनी चाहिये कि अनुमान और आगमसे जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अस्पष्ट होता है। सर्वज्ञको ऐसा अस्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता, ऐसे अस्पष्ट ज्ञानवालेको सर्वज्ञ नहीं कह सकते।

सर्वज्ञताका अर्थ क्या है? यदि यह कहो कि पदार्थमात्रके ज्ञानको ही सर्वज्ञता कहते हैं, तो दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि, इस प्रकारका पदार्थमात्रका ज्ञान होना किस प्रकार सम्भव है? यदि कहा जाय कि क्रमश—धीमे धीमे—सब पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है तो यह युक्ति भी ठहर नहीं सकती, क्यों कि भूतकालमें, वर्तमान कालमें और भविष्य कालमें जिन पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई है, हो रही है और होगी उनकी संख्याका पार नहीं पाया जा सकता। उन्हें धीमे धीमे (क्रमशः) जाननेका यत्न किया जाय तो वह ज्ञान अपूर्ण ही रहेगा। यदि यह कहो कि सर्वज्ञको समस्त पदार्थोंका ज्ञान युगपत्‌रूपसे (एक साथ)

होता है तो यह कथन भी यथार्थ नहीं है; क्यों कि शीतोष्ण आदि पदार्थ तो एक दूसरेके विरुद्ध हैं। ऐसे विरोधी पदार्थोंका ज्ञान एक ही समयमें किस प्रकार प्राप्त हो सकता है? यदि कोई कहे कि मुख्य पदार्थोंका ज्ञान होनेसे उसीमें सब कुछ आ जाता है तो यह भी ठीक नहीं है, क्यों कि अवशिष्ट पदार्थोंके ज्ञान बिना उसे सर्वज्ञ नहीं कह सकते। मीमांसकोंके कथनका मुख्य आशय यही है कि सर्वज्ञता असम्भव है।

अब जैनाचार्य इसका युक्ति और प्रमाणपुरःसर उत्तर देते है। वे कहते हैं—

चक्षुमें देखनेकी शक्ति है, परन्तु वह शक्ति अन्धेरेमें कुछ काम नहीं देती, वह अव्यक्त रहती है। प्रातःकाल जब पूर्व दिशामें भगवान् अंशुमालीकी किरणें प्रकट होती है, रात्रिका अन्धकार विलीन हो जाता है तब नेत्रोंकी रूपग्रहण करनेवाली शक्ति काम करने लगती है। उस समय आस-पासके पदार्थ देखे जा सकते हैं। आत्माका व्यापार भी इसी प्रकारका है। जगतके सभी पदार्थ देखनेकी (जाननेकी) उसमें शक्ति है, सर्वज्ञता इसका स्वभाव है। परन्तु अनादि ज्ञानवरणीयादि कर्मोंके संयोगसे वह वैसे ही पड़ी रहती है। इसका सर्वज्ञत्वस्वभाव अपरिस्फुट रहता है। सम्यक् तपस्यासे जब जीवका कर्ममल जल जाता है तभी आत्मा अपने शुद्ध स्वभावको—सर्वज्ञताको प्राप्त होता है। यह बात समझमें भी आसानीसे आ सकती है।

पदार्थमात्रको ग्रहण करनेकी शक्ति तथा स्वभाव आत्मामें है या नहीं, इस विषयमें विवादकी आवश्यकता नहीं है। यह तो स्वयं

मीमांसक भी मानते है कि व्याप्तिज्ञानसे भूत, भविष्य, वर्तमान, दूर, अनागत आदि सभी विषयोंमें प्रतीति-सी उत्पन्न होती है। वे यह भी स्वीकार करते है कि आगमप्रमाणके आधार पर भूत, भविष्य तथा दूर दूरके पदार्थोंकी उपलब्धि हो सकती है। इसका अर्थ यही है कि जीवमें समस्त पदार्थोंको जान लेनेकी शक्ति है। मीमांसकों द्वारा स्वीकृत आगमप्रमाण स्वयं ही पर्याप्त है।

जैन कहते हैं कि समस्त पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्ष रूपसे नहीं हो सकता, ऐसा मान लेना नहीं चाहिये। हमारी प्रत्यक्ष इन्द्रिय अनिन्द्रिय है अर्थात् उसे मनकी अपेक्षा रहती है। यही कारण है कि यह बहुत थोड़े और स्थूल पदार्थोंका ही ग्रहण कर सकती है। योगियोंकी प्रत्यक्ष इन्द्रियको मनकी अपेक्षा नहीं रहती, जिससे वे बहुतसे अतीन्द्रिय सूक्ष्म पदार्थोंका अवलोकन कर सकते हैं। जिनका कर्म-आवरण हट चुका है ऐसे महापुरुषके प्रत्यक्ष ज्ञानमे यदि विश्वके समस्त पदार्थ हस्तामलक हों तो इसमें शंकाकी क्या बात है? रामयगादिमें लिखा है कि, वैनतेय, सैकड़ों योजन दूरकी वस्तुओंको प्रत्यक्ष देख सकता था। चील आदि पक्षी बहुत दूरकी वस्तुओंको, पासमें हुई वस्तुओंके समान देख सकते हैं। हममें इस समय प्रत्यक्षशक्ति मर्यादित है, सही; परन्तु उसमें अत्यधिक शक्ति भरी हुई है इसका कौन इन्कार कर सकता है? मुख्य बात यही है कि आवरणोत्पादक — प्रतिबन्ध करनेवाले — कर्म दूर होने चाहिये। कर्म अलग होते ही प्रत्यक्ष ज्ञानरूपी सूर्य चमकने लगेगा।

जैनाचार्योंका मत है कि आगम भी सर्वज्ञताको सिद्ध करता है, उसमें अन्योन्याश्रय या अनवस्था दोष नहीं है। सर्वज्ञ आगम-प्ररूपक

होता है और आगमका आश्रय लेकर अन्य सर्वज्ञ होते है। इस प्रकार बीजाङ्कुर न्यायसे आगम और सर्वज्ञकी परम्परा चलती है। सर्वज्ञ-प्रणीत आगम प्रमाण है और आगम-प्रदर्शित सर्वज्ञत्व भी सत्य एवं सिद्ध है। हम आगम अथवा अनुमानसे जो ज्ञान प्राप्त करते है वह अस्पष्ट होता है, इसका कारण हमारा कर्ममल है। यह मल जब धुल जायगा तब सर्वज्ञत्व स्वतः प्रकट हुवे बिना न रहेगा। आवरणका क्षय होते ही सर्वज्ञ अर्हत् एकसाथ समस्त पदार्थ जान सकता है। उसे क्रमशः—धीमे धीमे—जाननेकी आवश्यकता नहीं होती। उसे एक ही क्षणमें परस्परविरोधी समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। सर्वज्ञमें सदैव—प्रतिसमय—समस्त पदार्थोंका ज्ञान रहता है। सर्वज्ञ अर्हत् प्रक्षीणमोह होता है। उसे किसी भी वस्तुकी अभिलाषा—किसी वस्तुका मोह—नहीं होता। वह पूर्णतः वीतराग होता है। वस्तु-स्वरूपके ज्ञानमें रागद्वेष उसे किसी प्रकारकी बाधा नहीं पहुंचा सकते।

जैनाचार्योंका अभिप्राय यह है कि, आज हम असर्वज्ञ—छद्मस्थ है, इसीसे प्रकट होता है कि कोई ऐसा आवरण है जो सर्वज्ञताको रोकता है। आवरणके दूर होते ही सर्वज्ञतारूप सूर्य अवश्य प्रकट होगा। यदि सर्वज्ञताको स्वीकार न करे तो असर्वज्ञतासे भी इन्कार करना पड़ता है।

मीमांसक कहते है कि आगम अपौरुषेय है। सर्वज्ञ पुरुष आगम-निर्माण कर ही नहीं सकते, क्यों कि सर्वज्ञमें वाणी होना असम्भव है। इसके उत्तरमे जैनाचार्य कहते है कि, वाणी और सर्वज्ञता परस्पर-विरोधी नहीं है। सर्वज्ञ वक्ता और आगम-प्ररूपक हो सकता है।

आगम अपौरुपेय नहीं है। सर्वज्ञके अभावमें तो आगम भी अप्रमाण माना जायगा। आगममें सर्वज्ञ महापुरुपकी वाणी न हो तो वह (आगम) भी गुण-रहित ही माना जायगा। जैन लोग मीमांसकोंके आगमको नहीं मानते तथापि वे वेदवाक्य उद्धृत करके सिद्ध करते हैं कि वेद भी सर्वज्ञकी सत्ता स्वीकारता है—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतःपाद स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्। हिरण्यगर्भे प्रकृत्यसर्वज्ञ —"

इस प्रकार सर्वज्ञकी सत्ता सभीको माननी पड़ती है। जैन सर्वज्ञको ईश्वर मानते हैं।

जैन दर्शन कहता है कि मुक्त जीव ही ईश्वर है। जैन दर्शनमें एक ही ईश्वर नहीं है। अनादि कालसे लेकर आज तक कितने ही पुरुषोंने मुक्ति प्राप्त की है और जैन दर्शनके अनुसार वे सब सर्वज्ञ तथा ईश्वर हैं। मुक्त जीवमात्र सर्वज्ञतादि कितने ही गुण-सामान्यके अधिकारी होते है। इस गुण-सामान्यकी दृष्टिसे जैन, कुछ अंशोंमें एकेश्वरवादी है ऐसा भी प्रतीत होगा।

कर्मबन्ध दो प्रकारके हैं: (१) घाती और (२) अघाती। घाती कर्म आत्माके स्वाभाविक गुणका घात करते हैं। ये कर्म चार भागोंमें विभक्त है: (१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) मोहनीय और (४) अन्तराय।

ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे आत्माका विशुद्ध ज्ञान आवृत होता है। दर्शनावरणीय कर्मके उदयसे आत्माकी दर्शनशक्ति अवरुद्ध रहती

है। मोहनीय कर्मके प्रतापसे विशुद्ध श्रद्धा-सम्यक्त्व, चारित्र-गुण विकसित नहीं होते और अन्तराय कर्म आत्माके स्वाभाविक वीर्यादिको विकसित नहीं होने देता।

अघाति कर्मके भी चार भेद है: (१) आयु, (२) नाम, (३) गोत्र और (४) वेदनीय। आयु कर्म प्राणिकी आयुका निर्माण करता है। नामकर्मके योगसे प्राणी विविध शरीरादि प्राप्त करता है। गोत्र कर्मके योगसे मनुष्य उच्च या नीच गोत्रको प्राप्त होता है। और वेदनीय कर्मके प्रतापसे जीव सुखदुःखादि सामग्री द्वारा आकुलता प्राप्त करके आत्माके अव्याबाध गुणसे विमुख रहता है। जैनाचार्य कहते है कि, जब जीव मुक्तिसाधनाके मार्गमें जाता है, घोर तपश्चर्या करता है, तब परिणाममें चार घाति कर्मोंका नाश होकर उसे सर्वज्ञता प्राप्त होती है। सर्वज्ञताका दूसरा नाम केवलज्ञान है। केवली या केवलज्ञानीको जीवन्मुक्त भी कह सकते है। जीवन्मुक्त सर्वज्ञके दो प्रकार है: सामान्य केवली और तीर्थङ्कर। जीवन्मुक्त पुरुष शरीरधारी होने पर भी सर्वज्ञ अथवा केवली होता है। सामान्य केवली महापुरुष अपनी मुक्ति साधते है, परन्तु तीर्थङ्कर नामवाले पुरुषसिंह अपनी मुक्ति साधनेके अतिरिक्त संसारी जीवोंको भी मुक्तिका—अशेष दुःखक्लेशादिसे छुटकारा पानेका—मार्ग दिखलाते है। इनके उपदेशसे संसारी जीव तर जाते हैं, इसीसे वे तीर्थस्वरूप माने जाते है।

जैन धर्मके ग्रन्थ तीर्थङ्कर भगवानके स्तुति—स्तवनोंसे भरे हैं। तीर्थङ्कर सद्धर्मका उपदेश करते हैं। वे जगत्पूज्य है, अर्हत् है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूपी चतुर्विध संघकी स्थापना भी

वे ही करते हैं।

णट्ठचदुघाइकम्मो, दंसणसुहणाणवीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा, सुद्धो अरिहो विचिन्तिज्जो॥

—द्रव्यसग्रह ५०।

वे अरिहन्त, जिनके चारों प्रकारके घातिकर्म नष्ट हो चुके हैं, जो अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तज्ञान और अनन्तवीर्यके अधिकारी हैं, वे शुभ देहधारी हैं और वे ही शुद्ध हैं। उनका चिन्तवन (ध्यान) करना चाहिये।

अर्हत देहधारी होने पर भी उन्हे किसी प्रकारकी आसक्ति नहीं होती। अत एव उन्हे अशरीरी भी कह सकते है। अर्हतकी देहकी उज्ज्वलताके सामने हजार सूर्यका प्रकाश भी पराभूत हो जाता है। ब्रह्मदेव कहता है*—

---

* यह मत ब्रह्मदेवजीका है, जो उपलब्ध जिनागमके तीर्थंकर वर्णनसे भिन्न है। जिनागमोंमें तीर्थंकरोंका वर्णन निम्न प्रकार मिलता है—

अरिहत सशरीरी हैं। उनकी सयोगि गुणस्थानमें स्थिति है। अत उन्हें मन है, वाणी है, औदारिक देह है, आहारपर्याप्ति है। तत्त्वार्थसूत्रके "एकादशजिने ॥९-११॥" सूत्रके अनुसार भूख है, प्यास है और रोग है। उन्हें अतराय कर्मका अभाव है अत आहार आदि मिलते हैं एव वे आहार लेते हैं। उन्हें आहारसे निष्पन्न औदारिक शरीर है, वज्रऋषभनाराच संहनन है, हड्डियोंका दृढ़तर मिलान है, हड्डियां हैं, सफेद खून है, सफेद मांस है, यावत् अन्ततः सातों धातु हैं और दश प्राणोंके विच्छेदरूप मृत्यु भी है। परन्तु ऐसे तीर्थंकर भगवान् बिना आसक्ति, आहार, निहार, विहार, उपदेश, प्रश्नोत्तर और शिक्षाप्रदान इत्यादि शरीर-जन्य सब काम करते हैं।

"निश्चयेनाशरीरोऽपि व्यवहारेण सप्तधातुरहितदिवाकर-
सहस्रभासुरपरमौदारिकशरीरित्वात् शुभदेहस्थः।"

निश्चयनयके अनुसार अर्हत् अशरीरी है; व्यवहारनयके अनुसार इनका शरीर अति पवित्र, सप्तधातुरहित तथा सहस्र सूर्योंकी कांतिके समान दीप्तिमान् होता है अर्थात् वह बहुत ही शुद्ध होता है। इन्हें भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, चिंता, जरा, रोग, मृत्यु, खेद, स्वेद, मद, अरति, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद—इन अठारह दोषोंमेंसे कोई दोष स्पर्श नहीं कर सकता। अर्हत् वीतराग, अतिशुद्ध और निरंजन है।

ब्राह्मणधर्मावलंबी जिस प्रकार रामचन्द्रादिको अवतार मानते हैं, जिस प्रकार बौद्ध बुद्धको मानते है उसी प्रकार जैन लोग तीर्थङ्करको मानते है। पृथ्वीके पापभारको हटानेके लिये, सद्धर्मके पवित्र प्रकाश द्वारा अन्धकारको मिटानेके लिये, कल्प कल्पमें तीर्थंकर जन्म लेते हैं। जब ये माताके गर्भमें आते है तो उनकी माताएं शुभ स्वप्न देखती हैं। तीर्थङ्करोंके अवतार और जन्माभिषेकके समय एवं दीक्षा, केवलज्ञानप्राप्ति और निर्वाणके समय इन्द्रादि देवसमूह इनकी वन्दना करने और महोत्सव मनाने आते है। इस प्रकारकी पंच महाकल्याणरूप पूजा (अर्हा) प्राप्त होनेसे तीर्थङ्कर "अर्हत" भी कहलाते है।

उन्हें अज्ञान, हिंसा, झूठ, चोरी, निद्रा, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, ईर्ष्या, दम्भ, क्रीडा और प्रेम (राग) इन अठारहमेंसे एक भी दोष छू सकता नहीं है। अर्हत् वीतराग अतिशुद्ध एवं निरंजन हैं।

(मु. श्री. दर्शनविजयजी)

तीर्थङ्कर, अनन्त दर्शन–ज्ञान–सुख–वीर्यरूप अथवा अपायापगमादि चार अतिशयोंके अधिकारी होते है। '**अपायापगमातिशय**'– तीर्थङ्कर भगवानको किसी प्रकारका क्लेश परेशान नहीं कर सकता। '**ज्ञानातिशय**'– संसारके समस्त व्यापार इनके ज्ञानमें प्रतिफलित होते है। '**पूजातिशय**'– तीनों जगतके जीव – मनुष्य, तिर्यंच और देव सभी जीव – इनको पूजते है। '**वचनातिशय**'– तीर्थङ्करोंका उपदेश सबको रुचिकर होता है, सबकी समझमें आता है और सबके लिये कल्याणकारी होता है।

तीर्थङ्कर साक्षात् भगवान अथवा प्रत्यक्ष ईश्वर है। जैन साहित्यमें तीर्थङ्करोंके रूप, गुण और ऐश्वर्य सम्बन्धी बहुत वर्णन मिलता है। तीर्थङ्कर जन्मसे ही मति, श्रुत और अवधिज्ञानधारी होते है। (१) इनका शरीर जन्मसे ही अपूर्व कान्तिमान् होता है। मलिनता इनसे दूर रहती है और जिस प्रकार पुष्पसे पराग उड़ता है उसी प्रकार भगवान तीर्थङ्करके शरीरसे सुवास आती है। (२) तीर्थङ्करके निःश्वासमें भी अत्यन्त माधुर्य और सौरभ होता है। (३) उनके शरीरका रक्त, मांस विशुद्ध तथा सफेद होता हैं। (४) केवलज्ञान प्राप्त होने पर, उनका उपदेश सुननेके लिये प्राणिमात्र उत्कण्ठित हो जाते है। यह उपदेश-सभा 'समवसरण' कहलाती है। (५) समवसरणमें देव, मनुष्य और तिर्यंच भी आते है। सब अपनी अपनी जगह बैठते और उपदेश सुनते है। (६) तीर्थङ्करकी भाषा पशु–प्राणी भी समझते है। उनकी वाणी रस, माधुर्य और अर्थसे परिपूर्ण होती है। (७) अर्हत् दिव्य भामण्डलसे विभूषित होते है। (८) जहां जहां वे विचरण करते हैं

वहां रोग, (९) वैर, (१०) दुर्विपाक, (११) महामारी, (१२) अतिवृष्टि, (१३) अनावृष्टि, (१४) दुर्भिक्ष और (१५) राज-अत्याचार आदि नहीं रह सकते। तीर्थङ्कर भगवानके आगमनके साथ ही देशमें सर्वत्र शांति, ऐश्वर्य और सद्भाव विराजमान हो जाता है। (१६) तीर्थङ्करोंके आगे एक धर्मचक्र चलता है। (१७) इनके दृष्टिपातमात्रसे चारों दिशाओंके प्राणी यह अनुभव करने लगते हैं कि मानों वे भगवानके सामने ही बैठे है। (१८) वृक्ष भी इनको नमन करते हैं। (१९) चारों ओर दिव्य दुंदुभिका नाद सुनाई देता है। (२०) इन्हे मार्गमें जाते हुवे कोई अन्तराय नहीं होता। (२१) इनके आसपास शीतल मन्द सुगन्ध पवन चलता है। (२२) पक्षी इनके आसपास कल्लोल करते है। (२३) देव इनके ऊपर पुष्पवर्षा करते है। (२४) सुगंधमय वर्षासे धरती भी सुशीतल रहती है। (२५) इनके केश या नख नहीं उगते (नहीं बढते) (२५) देव सदैव इनकी आज्ञामें उपस्थित रहते है। (२७) ऋतु भी सदैव अनुकूल रहती है। (२८) समवसरणमें क्रमश: तीन गढ रहते है। (२९) इनके पादस्पर्शसे सुवर्ण-कमल विकसित होते है। (३०) चामर, (३१) रत्नासन, (३२) तीन आतपत्र (छत्र), (३३) मणिमण्डित पताका और (३४) दिव्य अशोकवृक्ष इनके साथ ही रहते है।

तीर्थङ्कररूपी साक्षात् ईश्वरको लक्ष्य करके ही जैन पंच-परमेष्ठि-नमस्कारमे अरिहंतको प्रथम स्थान देते है।

" **नमो अरिहंताणं** "—अरिहंतको नमस्कार।

घाति कर्मके क्षयसे मनुष्य जीवन्मुक्त होता है। सामान्य केवली

और तीर्थङ्कर ये दोनों जीवन्मुक्त और सर्वज्ञ होते है, तथापि देहका संवन्ध रहता है। जीवन्मुक्त देहकी परवाह नहीं करता। उपरोक्त कथनानुसार वह देह हज़ारों सूर्यकिरणोंके समान उज्ज्वल और पवित्र होती है। इसके बाद जब अघाति कर्मका क्षय होता है तब पार्थिव देह भी गिर जाती है। इस अनिर्वचनीय अवस्थाको जीवकी परामुक्ति कह सकते है। उस समय जीवनकी सांसारिक आयुमर्यादा पूरी हो जाती है, देहकी नित्यपरिवर्तनशील उपाधि मिट जाती है। उच्च नीच गोत्रकी वेड़ी भी उस समय कट जाती है। अघाति कर्मका क्षय होते ही आत्मा पूर्ण स्वाधीन हो जाता है। यह मुक्ति ही प्राणिमात्रका स्वभाव और प्राणिमात्रकी अन्तिम परिणति अथवा उन्नति है। अघाति कर्मका क्षय होने पर सामान्य केवली और तीर्थङ्कर एक ही प्रकारका मुक्तिपद प्राप्त करते है। समाजमें सामान्य केवलीकी अपेक्षा तीर्थङ्कर भगवान् अधिक पूज्य माने जाते है, परन्तु मुक्तिपद प्राप्त होने पर सामान्य केवली और तीर्थङ्करमें किसी प्रकारका भेद नहीं रहता। मुक्तिपुरीमें ये दोनों समान है दोनों मुक्त है। इस प्रकार मुक्तिपदप्राप्त सर्वज्ञोंको जैन सिद्ध कहते है—

> **नट्ठट्ठकम्मदेहो, लोयालोयस्य जाणओ दट्ठा।**
> **पुरिसायारो अप्पा, सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो॥**
>
> —द्रव्यसग्रह ५१।

आठ प्रकारके कर्मोंका आभारी शरीर सिद्ध पुरुषोंको नहीं होता। सिद्ध लोकालोकका द्रष्टा और ज्ञाता होता है। निश्चयनयके अनुसार सिद्ध पूर्णत विदेह होने पर भी व्यवहारवशात पुरुषाकार, आत्मप्रदेश-

मात्र होते हैं। पुरुषाकार* यह आत्मप्रदेश, उनके अन्तिम पार्थिव शरीरकी अपेक्षा किंचित् न्यून ⅔ होता है। सिद्ध पुरुष लोकाकाशके शिखर पर रहते है।

सिद्धको पुन: संसारमें आना नहीं पड़ता। ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख—इस अनन्तचतुष्टयमें ही सिद्ध रमण करते है। कारण-कार्यकी परंपरासे उनका सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है। दु:खपूर्ण संसारसे ये अत्यन्त दूर निकल जाते है। लोकाकाशकी ऊंचेसे ऊंची सीमा पर, शांतिमय "सिद्धशीला" पर सिद्ध स्वभाव-अवस्थामें रहते हैं। इन्हें भवयन्त्रणा छू नहीं सकती। कर्म-कारागार-लोकाकाश सिद्धोंसे बहुत दूर रह जाता है। +लोकाकाशके ऊपर, उसके सामने ही चिरनिस्तब्ध, अनिर्देश्य, चिरस्थिर अनंत अलोक है।

सिद्ध—(१) सम्यकृत्वके अधिकारी है। (२) अनन्तज्ञानके अधिकारी है। लोक या अलोकमें एसी कोई वस्तु नहीं जो इनके ज्ञानका विषय न हो। (३) अनन्तदर्शनके अधिकारी है। (४) 'अनन्तवीर्य' अर्थात् अनन्त पदार्थ और द्रव्य-पर्याय ज्ञान और दर्शनमें धारण करते हुवे भी सिद्धोंको श्रम नहीं होता। (५) वे निर-तिशय सूक्ष्म होते है; इन्द्रियोंसे अगोचर है। (६) जिस प्रकार एक दीपशिखामें दूसरी दीपशिखा सहज मिल जाती है उसी प्रकार एक सिद्धके

---

* मनुष्यमात्र सिद्ध बन सकता है। सिद्धको शरीर नहीं है, केवल अवगाहना ही होती है। अर्थात् सिद्धके जीवप्रदेश त्यक्त पार्थिव शरीरके समान मनुष्याकारमें घन पीण्डस्वरूप बने रहते हैं। (मु श्री दर्शनविजयजी)

\+ क्यों कि सिद्धोंका स्थान लोकाकाशकी अंतिम सीमा है। (मु श्री. दर्शनविजयजी)

स्थानमें अन्य सिद्ध भी समा जाते है। इसे अवगाहना कहते है। सिद्ध एक दूसरेके बाधक नहीं होते। (७) ये अगुरुलघु होते है, सिद्धशीला पर स्वभावसे रहते है। (८) सिद्धका आठवां गुण अव्याबाध है। पार्थिव क्षणभंगुर सुखदुःखका नामोनिशान भी नहीं रहता। सारांश यह कि, सिद्ध अनंत, अनवच्छिन्न, अपरिवर्तित, असीम आनन्दमें वास करते हैं।

वेदपंथी तत्त्वदर्शी पुरुष धनधान्यादि ऐहिक सुखकी कामनासे ब्रह्मचिन्तन नहीं करते। बौद्ध भी सांसारिक कामनाओंकी तृप्तिके लिये बुद्धकी उपासना नहीं करते। इसी प्रकार जैन भी पार्थिव भोगकी आशासे अर्हत्पूजन और उपासना नहीं करते। वेदपंथियोमें कुछ लोग ऐहिक लाभके लोभसे पृथक् पृथक् देवोंकी भक्ति करते हैं। बौद्धोमें भी कुछ ऐसे देव है और जैनोंने भी देवीदेव माने है। परन्तु वास्तवमें आत्मोन्नतिके लिये जिस प्रकार वेदपंथी ब्रह्मार्चन करते है, उसी प्रकार जैन भी अरिहंत और सिद्धादिका ध्यान धरते है, उसी (आत्मोन्नतिके) उद्देश्यसे पूजा, अर्चना, उपासना करते हैं। तीर्थङ्कर कुछ ऐहिक सुख नहीं देते। वे तो (सिद्ध बनकर) सिद्धशिला पर रहते है। सांसारिक विषयोंसे उनका किसी प्रकारका तनिक भी सम्बन्ध नहीं होता। अत एव किसीको यह आशा तो रखनी ही न चाहिये कि वे चमत्कार दिखला देंगे। जैन यह मानते है कि, तीर्थङ्करों और सिद्धिप्राप्त महापुरुषोंके गुणगानसे हम इन गुणोंके पास पहुंचते हैं, वे गुण हमारे भीतर प्रवेश करते है और इस प्रकार आत्माका कल्याण होता है। सिद्ध एक उज्ज्वल आदर्श रूप है। इस आदर्शका ध्यान रखनेसे बंधनदशाग्रस्त जीव भी

मुक्तिमार्ग प्राप्त करता है। जैन उपासनाका यह स्पष्ट रहस्य है। इसी लिये जैन लोग भक्तिभावसे नमस्कार (नवकार) मन्त्रका उच्चारण करते हुवे कहते हैं—

"नमो सिद्धाणम्" — सिद्ध भगवानको नमस्कार।

ईश्वर सम्बन्धी जैन सिद्धान्त समझनेके लिये उपरोक्त विवेचनसे कुछ सहायता मिल सकती है। जैनोंके इस सिद्धान्तमें शंका या अश्रद्धाके लिये बिल्कुल स्थान नहीं है। इसमें गम्भीर गवेषणा और तत्त्वविचार गर्भित है इस बातका कोई इन्कार नहीं करेगा। जैनोंको अनीश्वरवादी कहा जाता है, यह भूल है। मीमांसकोंकी भांति जैन स्पष्टत: ईश्वरको अस्वीकार नहीं करते। अन्य दर्शनोंसे कितनी ही बातोंमें जैन दर्शनका साम्य है। उदाहरण स्वरूप सांख्यमतावलम्बी भी—

"मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासना सिद्धस्य वा।"

ऐसा कहते है। श्रुतिमें जो '**स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता**' कहा गया है वह भी मुक्तात्माको लक्ष्य करके ही कहा गया है, यह बात समझने योग्य है। सांख्यके साथ जैन दर्शनकी यह एक समानता है।

योगाचार्य भी कहते है कि, ईश्वर सर्वज्ञ है, उसका ध्यान करनेसे आत्मोन्नति होती है, वह धर्मोपदेष्टा भी है।

वेदान्त भी कहता है कि मुक्त जीव ही ईश्वर है, वही ब्रह्मपद-वाच्य है।

नैयायिकोंको भी कहना पड़ता है कि ईश्वर सर्वज्ञ है।

जो लोग शांत, तटस्थ भावसे जैन दर्शनके ईश्वर सम्बन्धी, सिद्धान्तका मनन करेंगे उन्हें यह प्रतीत हुए विना नहीं रहेगा कि, जैन दर्शन भारतवर्षका एक सुप्राचीन दर्शन है। जैन दर्शनको बौद्ध दर्शनके पश्चात्‌का तो कह ही नहीं सकते, परन्तु यदि कोई उसे बुद्धका समकालीन कहे तो भी ठीक नहीं है। भारतवर्षमें, भूतकालके किसी अज्ञात युगमें, जब ईश्वर संबन्धी विविध सिद्धान्तोंका प्रचार हुवा था, उसी युगमे—प्राचीन कालके अन्धकाराच्छन्न वातावरणमें—जैन दर्शनने ईश्वर सम्बन्धी एक नवीन सिद्धान्त—नूतन प्रकाश विश्वको दिया था।

जैन दर्शनमें कर्मवाद

कर्मवाद क्या है? कर्मके साथ निश्चित फलके अछेद्य सम्बन्धका नाम कर्मवाद है। पृथ्वीके सभी भागोंमें, सभी दर्शनकारोंने कर्मवाद माना है। परन्तु भारतीय दर्शनोंमें इसने एक विशेष स्थान प्राप्त किया है। भारतीय दर्शनोमें परस्पर मतभेद होते हुवे भी कर्मवादके अमोघत्वको सभीने स्वीकार किया है। पूर्व मीमांसामें परब्रह्मका विचार नहीं है, इससे वह उत्तर मीमांसासे भिन्न हो जाता है। आत्माकी विविधताका स्वीकार करके सांख्य तथा योगदर्शन वेदांतका विरोध करते है। आत्मामें गुणादिका आरोप करके न्याय तथा वैशेषिक दर्शन, सांख्य तथा योगदर्शनका सामना करते है। आत्माके गुण उसके (आत्माके) साथ ही बद्ध है और पृथक् पृथक् गुण-पर्यायोंमें आत्मा स्वयं-ही प्रकाशको प्राप्त होता है, ऐसा कहकर जैन दर्शन न्याय और वैशेषिकके दोष बतलाता है। बौद्ध दर्शन नित्य सत्य आत्माका अस्तित्व ही नहीं स्वीकारता। इस प्रकारकी अनेकों भिन्नता और विरुद्धता होते हुवे भी कर्मवादके विषयमें सभी प्राय: एक मत है – अर्थात् मनुष्य जो बोता है, उसीका फल प्राप्त करता है, इसका भारतीय दर्शनोंमेंसे कोई भी विरोध नहीं करता। मुसल्मानो और ईसाइयोंमें जो करुणावाद (Doctrine of grace) और जिसे अन्य

कोई भी कर सके ऐसा प्रायश्चित्तवाद (Doctrine of vicarious Atonement) प्रचलित है उससे प्राचीन भारत अपरिचित था, ऐसा कदाचित् कहा जा सके। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्रके प्रभावसे पुराने–प्राक्तन कर्मोके फलको रोका जा सकता है तथा नवीन कर्मोंका एवं उनके साथ सम्बन्ध रखनेवाले दु:खमय जन्म मरणादिका भी निवारण हो सकता है—यह हमारा भारतीय मत है। प्राक्तन कर्मोंमें एक अलभ्य शक्ति होती है, इस बातसे किसीने इन्कार नहीं किया। कर्मका फल इतना दुरतिक्रमणीय है कि केवली भगवानको भी अपने पूर्वकृत कर्म भोगनेके लिये कुछ समय तक शरीररूपी कारागारमें रहना पड़ता है। इस आशयके शास्त्रोंमें कितने ही उल्लेख है। एक वेदपंथी कवि शिहलन मिश्र कहते है—

आकाशमुत्पततु गच्छतु वा दिगन्त-
मम्भोनिधिं विशतु तिष्ठतु वा यथेष्टम्।
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकृन्नराणां
छायेव न त्यजति कर्मफलानुबन्धि॥

—शान्तिशतकम्, ८२।

आप उडकर आकाशमें चले जावें, दिशाओंके उस पार पहुंच जावें, समुद्रके तलमें घुस बैठे या चाहे जहां चले जावें, परन्तु जन्मान्तरमें जो शुभाशुभ कर्म किये है उनके फल तो छायाके समान साथ ही साथ रहेंगे; वे तुम्हे कदापि न छोडेंगे।

महात्मा बुद्धने भी कहा है—

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे
न पब्बतानं विवरं पविस्स।

न विज्जती सो जगति प्पदेशो
यत्थट्ठितो मुञ्चेऽय्य पापकम्मा॥

—धम्मपद, ९-१२।

अन्तरिक्षमें चले जाओ, समुद्रमें घुस जाओ, गिरिकन्दरामें जा घुसो, परन्तु जगतमें ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है कि जहां तुम्हें पाप कर्मोंका फल भोगना न पड़े।

जैनाचार्य श्रीअमितगति कहते हैं—

स्वयं कृतं कर्म्म यदात्मना पुरः
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

—सामायिकपाठ, ३०।

अपने पूर्वकृत् कर्मोंका शुभाशुभ फल भोगना ही पड़ता है। यदि अन्यकृत कर्मोंका फल हमे भोगना पडता हो तब हमारे स्वकृत कर्म निरर्थक ही रहे।

कर्मकी सत्ता अत्यन्त प्रबल है। उसके सामने किसीका कुछ बस नहीं चलता। यहां यह बतलाना अभीष्ट है कि वह कर्म क्या है और कर्मके साथ कर्मफलका क्या सम्बन्ध है।

पूर्व मीमांसा दर्शनमें कर्मकाण्ड सम्बन्धी बहुत अधिक विवेचन है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मीमांसा दर्शन इसके अतिरिक्त और कुछ कहना नहीं चाहता कि वेदविहित कर्मसे स्वर्गादि प्राप्त हो सकते है। कर्मस्वभाव और कर्मप्रकृतिके विषयमें कुछ स्पष्टीकरण

करनेका कष्ट मीमांसा दर्शनने नहीं उठाया। अत एव यहां हमें मीमांसा दर्शनके पेचीदा झगड़ेमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं है।

'एकमेवाद्वितीयम्' — ब्रह्म पदार्थ — के स्वरूपके निर्णयमें वेदान्त इतना मस्त हो गया है कि वह विचारजालसे बाहर ही नहीं निकल सकता। उसे कर्मके स्वभावका निर्णय करनेके लिये तनिक भी अवकाश नहीं है। सांख्य और योग दर्शनके विषयमें भी यही बात कही जा सकती है। वैशेषिक दर्शन भी कर्मकी तात्त्विक आलोचना नहीं करता। सभी दर्शन स्वीकार करते हैं कि, कर्मोंके साथ कर्मफलका अच्छेद्य सम्बन्ध है और प्राक्तन कर्मके प्रतापसे ही जीव वर्तमान अवस्था प्राप्त करता है, परन्तु इस विषय पर सम्यक् रीतिसे किसीने भी विचार नहीं किया।

न्याय दर्शनने कर्मके स्वरूपका निर्णय करनेका कुछ प्रयत्न किया है। बौद्ध धर्मके मूलमें कर्मतत्त्व ही मुख्य है ऐसा कहे तो अयुक्त न होगा। जैन दर्शनमें कर्मकी प्रकृति और भोगोंके संबन्धमें अत्यन्त विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। हम यहां न्याय, बौद्ध और जैन इन तीन दर्शनोंकी तुलनात्मक विवेचना करनेका यत्न करेंगे।

कर्मके साथ कर्मफलका सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित हुवा यह प्रश्न न्याय दर्शनकारके मनमें अवश्य उत्पन्न हुवा था। कर्म पुरुषकृत है इस बातकी भी उसे खबर थी। कर्मका फल अवश्यम्भावी है, इससे गौतमने इन्कार नहीं किया। पर उसे यह भी मालूम था कि कई बार पुरुषकृत कर्म निष्फल चला जाता है। यहां एक उलझन आ पड़ी। गौतमके मनमें स्वभावतः ही यह प्रश्न उत्पन्न हुवा कि, पुरुषकृत कर्म स्वयं ही कर्मफल किस प्रकार दे सकता है।

अनेक बार कर्मके साथ कर्मफलका सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, इस बातका समाधान करते हुवे उन्होंने कर्म और कर्मफलके बीचमें, कर्मसे पृथक् एक अन्य कारण प्रविष्ट कर दिया। उन्हें कहना पड़ा कि—

> ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्।
> न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः
> तत्कारितत्वादहेतुः। —न्यायसूत्र ४, १, १९, २१।

"कर्मके फलमें ईश्वर ही कारण है। पुरुषकृत कर्म अनेक बार निष्फल होते हुवे देखे जाते है। पुरुषकृत कर्मके अभावमें कर्मके फलकी उत्पत्ति नहीं होती अत एव कर्म ही फलका कारण है—यदि कोई यह कहे तो वह यथार्थ न होगा। कर्मफलका उदय ईश्वराधीन है अत एव यह नहीं कहा जा सकता कि फलका एकमात्र कारण कर्म ही है।"

गौतम-सम्मत कर्मवादके विषयमें इतना तो समझमें आता है कि वे मानते हैं कि कर्मफल पुरुषकृत कर्मके आधीन है, परन्तु वे यह स्वीकार नहीं करते कि कर्मफलका एकमात्र और अनन्य कारण कर्म ही है। उनके कथनका सारांश यह है कि, यदि कर्मफल एकमात्र कर्मके ही आधीन हो तो फिर प्रत्येक कर्मका फल प्रकट होना चाहिये। यह तो यथार्थ है कि कर्मफल कर्मके आधीन है, परन्तु कर्मके फलका उदय अकेले 'कर्म' पर ही निर्भर नहीं है; पुरुषकृत कर्म अनेक बार निष्फल जाते हुवे देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि, कर्मफलके विषयमें कर्मसे अतिरिक्त कर्मफल-नियंता एक ईश्वर भी है। यहां पर नैयायिक लोग वृक्ष और बीजका उदाहरण देते है। वृक्ष बीजके आधीन है, यह बात मान ली जा सकती है और इसी प्रकार कर्मफलको कर्मके आधीन मान सकते है,

परन्तु वृक्षकी उत्पत्ति केवल बीजकी ही अपेक्षा नहीं रखती, उसके लिये हवा, पानी और प्रकाशादिकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कर्म-फलके लिये भी ईश्वरकी आवश्यकता होती है।

न्याय दर्शनका मुख्य अभिप्राय यह है कि, ईश्वर कर्मसे पृथक् है, परन्तु कर्मके साथ फलकी योजना कर देता है। कितने ही दार्शनिक यह बात नहीं स्वीकार करते कि ईश्वर इन झगडोंमें पड़ता है। प्राचीन न्यायमें, कर्म और कर्मफलवादकी युक्ति पर ही ईश्वरका अस्तित्व अवलम्बित है। नवीन नैयायिकोंको इस युक्ति पर विशेष आस्था नहीं है। कर्मके साथ फलका सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये ईश्वरका स्वीकार करनेकी अपेक्षा तो फलको पूर्णतः कर्माधीन मानना—अर्थात् यह स्वीकार करना कि कर्म स्वयं ही अपना फल उत्पन्न करता है, अधिक उचित है। बौद्ध दार्शनिकोंका यही मत है।

अन्य दर्शनकारोंके समान बौद्ध दर्शन भी स्वीकार करता है कि, कर्मके कारण ही यह संसार-प्रवाह प्रवाहित है। परन्तु गौतम और बुद्धके कर्ममें थोड़ा अन्तर है। बौद्धोंका कर्म क्या है, यह समझनेके लिये प्रथम संसारका स्वरूप समझ लेना चाहिये। बौद्ध मतानुसार संसार एक अनादि, अनन्त और निःस्वभाव धाराप्रवाह है। बुद्धदेव एक स्थान पर कहते हैं—

"अज्ञानसे संस्कार और संस्कारसे विज्ञानका जन्म होता है। विज्ञानसे नाम अथवा भौतिक देह, नामसे षट्क्षेत्र, षट्क्षेत्रसे इन्द्रियां अथवा विषय, और विषय अथवा इन्द्रिय संस्पर्शसे वेदना पैदा होती

है। वेदनासे तृष्णा, तृष्णासे उपादान, उपादानसे भव, भवसे जन्म और जन्मसे वार्द्धक्य, मरण, दुःख, अनुशोचना, यातना, उद्वेग और नैराश्य आदिका जन्म होता है। दुःख तथा यन्त्रणाका चक्र इसी प्रकार चलता रहता है।"

बौद्ध मतानुसार संसार एक प्रवाह है। अज्ञानसे संस्कार, संस्कारसे विज्ञान, विज्ञानसे नाम अथवा भौतिक देह, और फिर उत्तरोत्तर षट्क्षेत्र, विषय, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जन्म, जरा, मृत्यु आदिका क्रमशः जन्म होता है। पारिभाषिक शब्दोंको छोड़कर देखें तो बौद्ध मतानुसार संसार एक निरन्तर, सदा एक समान प्रवाहित रहनेवाला विज्ञान-प्रवाह है।

इस विवेचनसे भली भांति समझमें आ जायगा कि, संसारको कर्म-मूलक माननेका बौद्धोंका क्या आशय है अर्थात् वे कर्म किसे कहते हैं। उनके कथनका भाव यह नहीं है कि कर्मका अर्थ केवल पुरुषकृत कर्म है। वे लोग कर्मको नियमके अर्थमें व्यवहृत करते है। बौद्ध मतानुसार कर्मका अर्थ है जगद्व्यापी नियम (Law)। इसे 'कार्यकारणभाव' भी कह सकते हैं। इस नियमके सम्मुख संसारके समस्त भाव, पदार्थ और व्यापार शिर झुकाते हैं। इन्हींसे संसार चलता है। संसार इस नियम पर ही प्रतिष्ठित है।

अब फलोत्पत्तिके विषयमें बौद्धोंका मन्तव्य देखना चाहिये। वे कहते हैं कि कर्म स्वाधीन है, बीचमें ईश्वरकी या अन्य किसीकी आवश्यकता नहीं है। कर्म स्वयं ही फल उत्पन्न कर सकता है। एक

मनुष्य चोरी करे तो वह चोरीके प्रतापसे, चोरीके फलस्वरूप, स्वयं चोर बन जाता है। न्याय मतानुसार चौर कर्मके साथ ईश्वर चौर भाव अर्थात् चोरीके फलका सम्बन्ध स्थापित करता है। बौद्ध दर्शन कहता है कि, चौर कर्म ही चौर भावकी उत्पत्ति करता है। चोरी एक विज्ञान है। उत्पत्तिके दूसरे क्षण ही यह विज्ञान, सतत एकरूप प्रवाहित विज्ञान-प्रवाहमें मिल गया; चौर कर्मरूपी संस्कार शेष रह गया; इस संस्कार-मेंसे दूसरे ही क्षण विज्ञानकी उत्पत्ति हुई। यह चौर भाव इस दूसरे क्षणका विज्ञान। सारांशतः पूर्व क्षणका विज्ञान चौर कर्म, पर क्षणके विज्ञान चौर भावका उत्पादक हुवा।

संक्षेपमें बौद्ध दर्शनका सिद्धान्त इतना ही है कि, कर्मको केवल पुरुष-कृत कर्म ही न समझना चाहिये, कर्मके कारण ही संसार-प्रवाह प्रवाहित है। फलके सम्बन्धमें कर्म पूर्ण स्वाधीन है। उसमें ईश्वर या किसी अन्यके हस्तक्षेपकी आवश्यकता नहीं है।

बाह्य दृष्टिसे बौद्ध और जैन दर्शनमें कर्मकी प्रकृति और व्यापारके विषयमें अधिक भेद दिखलाई नहीं देता। जैन मतानुसार कर्मका अर्थ पुरुषकृत प्रयत्नमात्र ही नहीं है। कर्म एक विराट-विश्वव्यापी व्यापार है। इसीके कारण संसार-प्रवाह प्रवाहित है। फलके विषयमें जैन कहते हैं कि कर्म पूर्ण स्वाधीन है। ईश्वरको बीचमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं है। पुरुषकृत कर्म कभी निष्फल होता हुवा प्रतीत हो तो भी ईश्वरको बीचमें फसानेकी आवश्यकता नहीं है। कर्मका फल तो अवश्य ही मिलता है, उसके मिलनेमें कभी अधिक विलम्ब भी हो सकता है, परन्तु कर्मका फल न मिले यह तो असम्भव है। 'किसी समय पापी मनुष्य

सुखी और सज्जन दु:खी दिखलाई दें तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कर्मफल मिलता ही नहीं। एक जैनाचार्यने कहा है—

" या हिंसावतोऽपि समृद्धिः, अर्हत्पूजावतोऽपि दारिद्र्याप्तिः सा क्रमेण प्रागुपात्तस्य पापानुबन्धिनः पुण्यस्य, पुण्यानुबन्धिनः पापस्य च फलम्। तत् क्रियोपात्तं तु कर्म जन्मान्तरे फलिष्यति इति नात्र नियतकार्यकारणभावव्यभिचारः ॥

हिंसक मनुष्यकी समृद्धि और अर्हत्पूजापरायण पुरुषको दरिद्रताका कारण क्रमशः पूर्वजन्मकृत पापानुबन्धी पुण्यकर्म और पुण्यानुबन्धी पापकर्म है। हिंसा और अर्हत्पूजा, ये कर्म कभी निष्फल नहीं जा सकते। इन कर्मोंका फल तो मिलता ही है, चाहे जन्मान्तरमें ही क्यों न मिले। कर्म और कर्मफलमें कार्यकारणभाव सम्बन्धी किसी प्रकारका व्यभिचार नहीं है।

जैन मतानुसार प्राणीमात्रको कर्मफल तो भोगना ही पड़ता है। फलोत्पत्तिके लिये कर्मफलनियंता ईश्वरका बीचमें कोई स्थान नहीं है।

उपरोक्त कथनानुसार बाह्य दृष्टिसे कर्मके स्वरूप और व्यापारके विषयमें जैन मत और बौद्ध दर्शनमें अधिक भेद प्रतीत नहीं होता, परन्तु वास्तवमें इन दोनोंमें मौलिक भेद अवश्य है। वाक्योंमें जितना साम्य है उतना अर्थोंमें नहीं है।

बौद्ध मतानुसार कर्म निःस्वभाव नियम है। जैन मतानुसार कर्म संसारी जीवके बन्धनका कारण है। जीवसे वह कर्म पृथक् है और वह एक प्रकारका द्रव्य है। इस कर्म-द्रव्यके आस्रवके कारण, अनादिकालीन अशुद्धता वश जीव बन्धनग्रस्त रहता है। जैन दर्शन

कर्मको केवल पुरुषकृत प्रयत्न नहीं मानता और न ही बौद्धोंके समान निःस्वभाव नियममात्र भी मानता है। कर्म वस्तुतः जड़ पदार्थ हैं और आत्माके समान ही स्वाधीन एवं जीवविरोधी द्रव्य है। अंग्रेजीमें जिसे Matter कहते है जैन दर्शन कर्मको लगभग उसीके समान एक द्रव्य मानता है। जीवका और कर्मका स्वभाव एक नहीं है; दोनोंका स्वभाव भिन्न है। जीवके साथ मिल कर कर्म उसकी बन्धनग्रस्त सांसारिक अवस्थाका कारण बन जाता है। कर्मका निवारण होनेसे सांसारिक जीव मुक्त हो जाता है। पंचास्तिकायमें कहा गया है कि—

"जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा।
काले विजुज्जमाणा सुहदुःक्खं दिंति भुंजंति॥"

"जीव और कर्म-पुद्गल परस्पर गाढ रूपमें मिल जाते है। समय आने पर वे पृथक् पृथक् भी हो जाते है। जब तक जीव और कर्म-पुद्गल परस्पर मिले रहते है तब तक कर्म सुख दुःख देता है और जीवको वह भोगना पड़ता है।"

कर्मके विषयमें जैन दर्शनमें खूब विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। कर्म पुद्गल-स्वभाव Material है और कर्मरूपी अजीव द्रव्यके साथ चैतन्यरूप जीव-पदार्थ किस प्रकार मिल जाता है, इन सब बातोंका वर्णन जैन दर्शनकारोंने अत्यन्त उत्तम रीतिसे किया है। वे कहते हैं कि, यह विश्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म 'कर्मवर्गणा' नामक कर्मद्रव्य और चेतन-स्वभाव जीव-पदार्थसे भरपूर है। जीव स्वभावत: शुद्ध, मुक्त, बुद्ध स्वभाव-वाला होने पर भी रागद्वेष ग्रस्त हो जाता है, इससे कर्मवर्गणामें भी एक ऐसा अनुरूप भावान्तर हो जाता है कि जिससे समस्त कर्म-

वर्गणा रागद्वेषाभिभूत जीव-पदार्थमें आश्रव प्राप्त करती है, और आश्रवके परिणाम स्वरूप जीव बन्धनमे पड़ जाता है। जैन शुद्ध जीवको शुद्ध जलकी और कर्मको मिट्टीकी उपमा देकर कहते है कि संसारी अथवा बन्धनग्रस्त जीवोंको गदले पानीके समान समझना चाहिये। गदले पानीमेंसे मिट्टी निकाल दे तो वह शुद्ध—निर्मल जल हो जाता है। इसी प्रकार सांसारी जीवसे कर्मरूपी मल दूर हो जाय तो वह जीव भी अपनी स्वाभाविक शुद्ध, मुक्त और बुद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है।

जैन कर्मपुद्गलको आठ भागोंमें विभक्त करते है—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म, ये कर्म ज्ञानको ढक लेते है।

(२) दर्शनावरणीय कर्म, ये जीवके दर्शनगुणको आच्छन्न किये रहते है।

(३) मोहनीय कर्म,-ये आत्माके सम्यक्त्व अथवा चारित्र गुणको दबाए रहते है। [याने अनन्त आनन्दको दबाता है।]

(४) अन्तराय कर्म, ये जीवकी स्वाधीन शक्तिमें अन्तरायरूप होते हैं।

(५) वेदनीय कर्म, इनके कारण जीव संसारमें सुखदुःखका अनुभव करता है।

(६) नामकर्म, यह कर्म जीवकी देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि गति जाति शरीरादिका निर्माण करता है।

(७) गोत्रकर्म, इस कर्मसे जीव उच्च अथवा नीच गोत्रमें जन्म ग्रहण करता है।

(८) आयुष्यकर्म, यह जीवकी आयुष्यका निर्माण करता है।

ज्ञानावरणीय कर्मके पांच भेद हैं। दर्शनावरणीयके नौ भेद है। मोहनीयके २८ भेद हैं। अन्तरायकर्म ५ प्रकारका है। वेदनीय २ प्रकारका होता है। नामकर्मके ९३ भेद हैं। गोत्रकर्म २ प्रकारका होता है। आयुषकर्म ४ तरहका होता है। इस प्रकार आठ प्रकारके कर्मपुद्गल १४८ भेदोंमें विभक्त हो जाते हैं। जैन मतानुसार जीवका प्रत्येक भाव अथवा प्रकृति कर्मपुद्गल-जनित होती है। जीव-शरीरकी अस्थि भी अस्थिकर्मद्वारा निश्चित होती है। जैन शास्त्रोंमें उपरोक्त १४८ प्रकारके कर्मोंका विस्तृत वर्णन है।

ज्ञानावरणीयादि अष्टविध कर्मोंके जैन दार्शनिकोंने 'घाती' तथा 'अघाती' नामसे दो भेद किये हैं। इनमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म घाती कर्म हैं तथा वेदनीय, नाम, आयुष तथा गोत्र ये अघाती कर्म हैं।

कर्म-आश्रवके कारण जीव बन्धनमें पड़ता है अर्थात् कर्मबन्ध कर्मका अनुसरण करता है। बन्धकी प्रकृति उपरोक्त अष्टविध कर्मप्रकृतिके अनुरूप होती है। बन्धकी स्थितिका आधार कर्मकी स्थिति है। किस कर्मका स्थितिकाल कितना होता है यह भी जैन दार्शनिकोंने बतलाया है। कर्मकी फल देनेवाली तीव्र अथवा मन्द शक्ति पर बंधके अनुभव [रस] या 'अनुभाग'का आधार रहता है।

जैन दर्शनमें कर्मको जीवविरोधी—पुद्गलस्वभावी अजीव द्रव्य माना गया है। यह जीवके साथ किस प्रकार मिलता है इसका संक्षिप्त

वर्णन ऊपर किया गया है। यहां यह बात याद रखनी चाहिये कि जीव साक्षात् सम्बन्धसे कर्मविकारका कारणरूप नहीं है। इसी प्रकार कर्म भी जीवविकारका कारणरूप नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य कहते है—

कुव्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
न हि पोग्गलकम्माणं इदि जिनवयणं मुणेयव्वं ॥
कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं ॥

आत्मा अपने स्वभावानुरूप कर्म करता हुवा अपने भावोंका कर्ता रहता है। निश्चयदृष्टिसे आत्मा पुद्गल-कर्मसमूहका कर्ता नहीं है। यह जिनवचन है।

श्रीनेमिचन्द्रजी इस विषयमें अधिक स्पष्टतया कहते हैं—

पुग्गलकम्मादीण कत्ता ववहारदो दु निच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धनया सुद्धभावाणं ॥

—द्रव्यसंग्रह ८।

व्यवहारदृष्टिसे आत्मा पुद्गल-कर्मसमूहका कर्ता है। अशुद्ध निश्चयनयके अनुसार आत्मा-रागद्वेषादि चेतन-कर्मसमूहका कर्ता है। शुद्ध निश्चयनयके अनुसार वह स्वकीय शुद्ध भावसमूहका कर्ता है।

अनंत ज्ञान, अनन्त आनन्द आदि आत्माके स्वाभाविक गुण हैं। शुद्ध नयके अनुसार आत्मा केवल उन समस्त गुणोंका कर्ता अथवा अधिकारी है। सारांश यह कि शुद्ध निश्चयनयके अनुसार आत्माके साथ कर्मपुद्गलका कोई सम्बन्ध नहीं है। तथापि अशुद्ध अवस्थामें आत्मामें रागद्वेषादिका आविर्भाव होता है।

भावनिमित्तो वन्धो भावो रदिरागदोसमोहजुदो।

—पंचास्तिकाय।

वन्धमें भाव निमित्त है और रति, राग, द्वेष, मोहयुक्त भाव वन्धके कारण है।

राग द्वेषादि भावप्रत्ययमेंसे मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग उत्पन्न होते है। अशुद्ध निश्चयनयके अनुसार आत्मा भावप्रत्यय अथवा मिथ्यादर्शनादि पंचविध भावकर्मका कर्ता है। इस प्रकार अशुद्ध निश्चयनयके अनुसार भी जीव कर्मपुद्गलका कर्ता नहीं है।

शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनयके अनुसार आत्मा कर्मपुद्गलका कर्ता न होने पर भी व्यवहारनयके अनुसार जीव द्रव्य-बंध अथवा द्रव्यकर्मका कर्ता है। मिथ्यात्वादि भावकर्मके उदयसे आत्मा ऐसी स्थितिमें आ जाता है कि जिससे आत्मामें द्रव्यकर्म या कर्मपुद्गलका आश्रव होता है और इससे जीव बंध बांधता है। वंधके कारण आत्मा पुद्गलकर्मके फलस्वरूप सुख दुःखादिका भोग करता है।

उपरोक्त विवेचनसे पता चलेगा कि शुद्र निश्चयनयकी बात जाने दे तो भी अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे आत्मा पुद्गल-कर्मोंका कर्ता नहीं है। यह चैतन्य स्वरूप है अत एव कर्मका उपादान कारण भी नहीं हो सकता और न है। भावकर्मके कारण आत्मामें कर्मवर्गणाका आश्रव होता है इस लिये आत्माको सीधे तौर पर—साक्षात् संबन्धसे—आश्रवका निमित्तकारणरूप भी नहीं माना जा सकता। आत्मा मात्र अपने भावोंका कर्ता है। निश्चयनयका यही सिद्धान्त है। इतना होते

हुवे भी भावप्रत्यय अथवा भावकर्मके उदयसे आत्मा ऐसी अवस्थामें आ जाता है कि जिससे कर्मपुद्गल स्वयं ही अनुपम अवस्थाको प्राप्त होकर सहजमें ही आत्मामें प्रवेशलाभ करते हैं। आत्मा साक्षात् रूपमें उपादानकारण या निमित्तकारण न होते हुवे भी परोक्ष रूपसे कर्ता है, और इसी लिये व्यवहारदृष्टिसे पुद्गल-कर्मका कर्ता माना जाता है।

यहां कर्म संवन्धी जैन सिद्धान्तका संक्षिप्त विवेचन किया गया है। न्याय दर्शनके मतानुसार कर्मका अर्थ पुरुषकृत प्रयत्नमात्र है। यह ऊपर बतलाया जा चुका है। इस प्रकारके प्रयत्नका फल जब दिखलाई न दिया तब [न्यायदर्शन-प्रणेता] गौतमको कर्मफल-नियन्ता ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ा। उसने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि कर्मके साथ फलका संयोग करना ईश्वरके अधिकारमें है।

बौद्ध मतानुसार कर्म केवल पुरुषकृत प्रयत्नमात्र ही नहीं है। वह एक महान विश्व-व्यापार — संसार-नियम — है। यही संसारकी आधार-शिला है। कर्म ही संस्कारद्वारा कर्मफलकी उत्पत्ति करता है। बौद्ध कर्मफलनियन्ता ईश्वरको नहीं मानते।

जैन मतानुसार कर्म एक जागतिक व्यापार है। कर्म स्वयं ही, ईश्वरसे निरपेक्ष, कर्मफल उत्पन्न करनेमें समर्थ है। कभी कभी चाहे किन्हीं विशेष कारणोंसे कर्मका फल दिखलाई न दे या उसका अनुभव न हो, परन्तु कर्मका फल अनिवार्य है। यह जैन सिद्धान्तका सार है। जैन सिद्धान्तानुसार कर्म न तो केवल पुरुषकृत प्रयत्न ही है और न ही निःस्वभाव नियममात्र है। कर्म पुद्गलस्वभाव अर्थात material

है। कर्मके आश्रवसे निश्चयतः शुद्ध और व्यवहारदृष्टिसे अनादिबद्ध जीव पुनः बन्धनमे पड़ता है। निश्चयनयके अनुसार जीव स्वयं राग-द्वेषादि भावोंका कर्ता है। जीव कर्मपुद्गलका उपादानकारण या निमित्त-कारण नहीं है, तथापि रागद्वेषादि भावोंके आविर्भावसे आत्मामें कर्मका आश्रव होता है। इसी लिये व्यवहारदृष्टिसे आत्माको कर्मपुद्गलका कर्ता कहा जाता है। कर्मके भी घाती और अघाती ये दो प्रकार है। इसके अतिरिक्त ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय इत्यादि भेदसे कर्म आठ प्रकारका और श्रुतावरणीय, चारित्रमोहनीय आदि भेदसे कर्म १४८ प्रकारका होता है। इन सब कर्मोंका मूलोच्छेदन होने पर आत्मा निज स्वभावमें रमण करता है—अर्थात् मुक्ति प्राप्त करता है।

जैन विज्ञान

जैन संप्रदाय विशाल भारतीय जातिका एक अंश है। भारतवर्षकी जो प्राचीन संस्कृति आज पुरातत्वशास्त्रियोंको चकित कर रही है उस संस्कृतिका पूरा और सच्चा इतिहास, जैन सम्प्रदायका अनुशीलन किये विना नहीं जाना जा सकता, जैन सम्प्रदायके विवरणके विना वह अपूर्ण रहता है।

कुछ लोग भूलसे यह समझ लेते है कि जैन धर्मका प्रादुर्भाव सर्व प्रथम महावीरस्वामीने किया है, अर्थात् उनका मत है कि जैन धर्मका जन्म ईस्वीसनके पूर्व छठीं या सातवीं शताब्दीमें हुवा है। जेकोबी जैसे समर्थ विद्वानोंने यह भ्रम निवारण करनेका खूब प्रयत्न किया है और उनका यह प्रयत्न अधिकांशमें सफल हुवा है।

जैन धर्म इस संसारका प्राचीनसे प्राचीन धर्म है। भागवतकारने जिस ऋषभदेवको विष्णुका मुख्य—आदि अवतार माना है वही जैन संप्रदायका आदि ईश्वर, वर्तमान चौवीसीमें प्रथम तीर्थंकर है।

पुण्यक्षेत्र भारतवर्ष जिस पुरुषश्रेष्ठके नामसे आज भी गौरवान्वित है, जिस महापुरुषके नाम पर प्रत्येक भारतवासीको अभिमान

है उस चक्रवर्ति-सम्राट् भरतको ब्राह्मण संप्रदाय और जैन संप्रदाय दोनों ही भक्तिभावसे वन्दन करते हैं।

जिस रघुपतिके चरित्रचित्रणसे ब्राह्मण साहित्य जगमगा रहा है उस रामचन्द्रको भी जैन समाजने अपने अन्दर स्वीकार किया है। द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण और उनके ज्येष्ठ बन्धुको भी जैन साहित्यमें अच्छा स्थान मिला है। उनके एक आत्मीय—श्री नेमिनाथको तो जैन धर्मके २२ वे तीर्थंकर होनेका सौभाग्य प्राप्त हुवा है। गौतमबुद्धके जन्मसे २५० वर्ष पहिले जैन धर्मके २३ वें तीर्थंकर भगवान श्री पार्श्वनाथका शासन वर्तमान था। इन सब बातोंका ऐतिहासिक मूल्य चाहे जो हो, परन्तु यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि भगवान् महावीरस्वामीके आविर्भावसे पहिले भी भारतवर्षमें जैन धर्मका प्रभाव था। बौद्ध धर्मके प्राचीनातिप्राचीन ग्रन्थोंमे जो "नायपुत्त" और "निगंथ" के नाम मिलते हैं वे बुद्ध भगवानके पहिलेके थे इसमें तनिक भी सन्देहको स्थान नहीं है। जैन धर्म बौद्ध धर्मकी शाखा तो है ही नहीं, इतना ही नहीं वह बौद्ध धर्मसे अत्यन्त प्राचीन है। अत एव हम यहां पुनः कहना चाहते है कि, भारतीय दर्शन, भारतीय सभ्यता और भारतीय संस्कृतिके इतिहासमें जैन धर्मको एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

अत्यन्त प्राचीन कालकी अर्ध स्पष्ट अथवा अस्पष्ट बातोंको तो जाने दीजिये। इतिहासके प्रभातकालसे जैन महापुरुषोंका गौरव भगवान् अंशुमालीकी किरणोंके समान पृथ्वी पर देदीप्यमान होता लगता है। इस बातके प्रमाण मिलते है कि भारतका चक्रवर्ति-सम्राट् मौर्यकुल-मुकुटमणि चन्द्रगुप्त जैन धर्मका अनुरागी था। प्राचीनसे प्राचीन वैया-

करण शाकटायन अथवा जैनेन्द्रका नाम व्याकरणका कौन विद्यार्थी नहीं जानता? महाराज विक्रमादित्यकी राजसभाके नवरत्नोंमें एक रत्न जैनधर्मावलम्वी था ऐसा अनुमान हो सकता है। अभिधान-प्रणेताओंमें श्री हेमचन्द्राचार्यका स्थान बहुत ऊंचा है। दर्शनशास्त्रमें, गणितमें, ज्योतिषमें, वैद्यकमें, काव्यमें और नीतिशास्त्र आदिमें जैन पण्डितोंने जो भाग लिया है—नये नये तथ्य प्रकट किये है—उनकी गणना करना सहज कार्य नहीं है।

यूरोपके मध्यकालीन लोक-साहित्यका मूल भारतवर्ष है और भारतवर्षमें सर्वप्रथम लोकसाहित्यकी रचना जैन पण्डितोंने की है। जैन त्यागी पुरुष महान् लोक-शिक्षक थे।

शिल्प और स्थापत्यमें भी जैन अग्रगण्य थे। कोई भी तीर्थ इस वातकी साक्षी दे सकता है। इलोरा जैसे स्थानोंमें आज भी जैनोंकी कलाकरामतके भग्नावशेष देखे जा सकते है। आवु और शत्रुंजयके मन्दिर किस कलाप्रेमीको मुग्ध नहीं करते? आज भी दक्षिणमें गोमटेश्वरकी मूर्ति कालकी क्रूरताका हास्य करती हुई प्रतीत होती है। इस सम्बन्धमें इम्पीरीयल गेज़ीटीयर आफ़ इंडियामें लिखा है—"These Colossal monolithic nude Jain statues......are among the wonders of the world..." जगतमें यह एक आश्चर्य है।

इसके अतिरिक्त विधर्मियोंके युग-युगव्यापी अत्याचारों, परिवर्तनों, अग्नि और भूकम्पके उपद्रवोंसे वचे हुवे जो नमूने आज मिलते हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि उच्च सभ्यताके लगभग सभी क्षेत्रोंमें जैनोंने उन्नति की थी।

जैन समाजके धारावाही इतिहास पर प्रकाश डालनेकी मुझमें शक्ति नहीं है। जैन विचारप्रवाहकी समस्त तरंगोंका दिग्दर्शन कराना भी असम्भवप्राय है। मैं यहां केवल जैन दर्शन और विज्ञानका संक्षिप्त विवरण ही उपस्थित करना चाहता हूं।

जैन सिद्धान्तानुसार जगतमें मुख्य दो तत्त्व हैं: जीव और अजीव। जीवका अर्थ है आत्मा और जीवसे जो भिन्न वह अजीव कहलाता है।

विज्ञान—जड़ विज्ञान

जड विज्ञानकी हस्ती अजीव पदार्थके आश्रित ही है। किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि वेदान्त जिसे 'माया' कहता है वही अजीव पदार्थ है। मायाकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; ब्रह्मके बिना वह बेकार है। परन्तु यह अजीवतत्व तो जीवतत्वके समान ही स्वाधीन, स्वतन्त्र, अनादि और अनन्त है। अजीवको सांख्यकथित प्रकृति भी न मान बैठना चाहिये। प्रकृति यद्यपि स्वाधीन, स्वतन्त्र, अनादि, अनंत है तथापि वह एक है; अजीव तत्त्व अनेक हैं। न्याय तथा वैशेषिक दर्शन सम्मत अणु और परमाणु भी जैन सिद्धान्तमान्य अजीव तत्त्वसे भिन्न हैं, क्यों कि अणु—परमाणुके अतिरिक्त अजीव तत्त्वके बहुतसे भेद हैं। बौद्धोंके "शून्य" में भी यह अजीव तत्त्व नहीं समा जाता। जैन मतानुसार अजीवके पांच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

पुद्गल

जिसे अंग्रेजोंमें मेटर (Matter) कहते है वही जैन दर्शनमें पुद्गल नामसे कथित है, यह कहा जाय तो अनुचित न होगा।

पुद्गलको स्वरूप है। रूप, रस, स्पर्श और गंध ये पुद्गलके चार गुण हैं। पुद्गलकी संख्या अनन्त है। शब्द, बन्ध (मिलन), सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, भेद, अंधकार, छाया, आलोक और ताप — ये पुद्गलके पर्याय हैं, अर्थात् पुद्गलसे इनकी उत्पत्ति होती है। शब्द, आलोक (प्रकाश) और तापको पौद्गलिक माननेमें जैनोंने कुछ अंशोमें वर्तमान वैज्ञानिक खोजसे समता प्रदर्शित की है। अन्धकार और छायाको न्यायदर्शन पौद्गलिक नहीं मानता। वह तो इन्हें अभावमात्र ही मानता है।

धर्म

धर्मका अर्थ साधारणतः पुण्यकर्म समझा जाता है, परन्तु जैन दर्शन इसका यहां भिन्न अर्थ करता है। जैन मतानुसार इसका अर्थ Principle of motion से मिलता जुलता ही है। जिस प्रकार मछलियोंकी गतिमें पानी सहायता देता है उसी प्रकार जो अजीवतत्व पुद्गल और जीवको गति करनेमें सहायता देता है उसे जैन विज्ञान 'धर्मतत्व' के नामसे पुकारता है। धर्म अमूर्त है, निष्क्रिय है और नित्य है। वह (धर्म) जीव और पुद्गलको गति नहीं देता — केवल उनकी गतिमें सहायक होता है।

अधर्म

अधर्मका अथ पापकर्म न समझना चाहिये। जैन दर्शन यहां इसका अर्थ Principle of rest से मिलता जुलता करता है। रास्ता भूल जाने पर मुसाफ़िर जिस प्रकार गाढ अंधकार फैला हुवा देखकर रातको किसी जगह विश्राम करता है उसी प्रकार यह अधर्म-अजीवतत्व पुद्गल और जीवको स्थित रहनेमें सहायता देता है। धर्मके समान

अधम भी अमूर्त, निष्क्रिय और नित्य है। वह जीव और पुद्गलकी गतिको नहीं रोकता – केवल उनकी स्थितिमें सहायता करता है।

आकाश

जो अजीवतत्त्व जीव आदि पदार्थोंको अवकाश देता है अर्थात् जिस अजीवतत्त्वके भीतर जीवादि पदार्थ रह सकते हैं उसे आकाश कहते है। पाश्चात्य वैज्ञानिक इसे Space कहते है। आकाश नित्य और व्यापक है, एवं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा कालका आश्रयभूत है। जैन इस आकाशके दो भेद करते हैं–(१) लोकाकाश, (२) अलोकाकाश। लोकाकाशमें ही जीवादि आश्रय प्राप्त करते है। लोकाकाशके बाहर अनन्त–शून्यमय अलोक है।

काल

कालका अर्थ Time है। पदार्थके परिवर्तनमें जो अजीव-तत्त्व सहायता करता है उसका नाम काल है। यह नित्य है और अमूर्त है। उस असंख्य [१] द्रव्यसे लोकाकाश परिपूर्ण है।

पुद्गलादि पंच तत्त्वकी इतनी आलोचनासे ही कोई भी समझ सकता है कि वर्तमान जड़ विज्ञानके मूल तत्त्व जैन दर्शनमें छुपे हुवे हैं। प्राचीन ग्रीसके Democritus से लेकर वर्तमान युगके Boscovitch तकके सभी वैज्ञानिकोंने Atom पुद्गलके अस्तित्वको स्वीकार किया है। ये Atom अनन्त हैं, यह बात भी वे सब मानते हैं। वे इस विषय-में भी एकमत हैं कि इनके संयोग–वियोगके कारण ही जड़ जगतके स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते हैं और लयको प्राप्त होते हैं।

प्रथम Parmenides, Zeno आदि दार्शनिक धर्म अथवा Principle of motion को स्वीकार नहीं करते थे, परन्तु बादमें न्यूटन आदि विद्वानोंने गतितत्त्वके सिद्धान्तकी स्थापना की है। ग्रीसके Heraclitus आदि दार्शनिक 'अधर्म-तत्त्व' माननेसे इन्कार करते थे, परन्तु बादमें Perfect equilibrium में अधर्मतत्त्व—नामांतरसे ही सही—स्वीकार कर लिया गया। केंट और हेगल आकाश तत्त्वको एक मानसिक व्यापार कहकर बिल्कुल ही उड़ा देना चाहते थे। परन्तु उसके बाद रसेल जैसे आधुनिक दार्शनिकोंने Space (आकाश)की तात्त्विकताको स्वीकार कर लिया। आकाश एक सत् एवं सत्य पदार्थ है, इस बातको अधिकांशमें Einstein भी मानता है। आकाशके समान ही कालको भी एक मनोव्यापार कहकर कुछ लोगोंने उड़ा देनेकी कोशिश की थी, परन्तु फ्रांसका एक सुप्रसिद्ध दार्शनिक Bergson तो यहां तक कहता है कि काल वास्तवमें एक Dynamic reality है। कालके प्रबल अस्तित्वको स्वीकार किये बिना काम ही नहीं चल सकता।

उपरोक्त पांच प्रकारके अजीव पदार्थोंके साथ जो तत्त्व कर्मवश जकड़ा हुवा है उसका नाम जीव है।

जीव

जैन दर्शनका जीवतत्त्व वेदान्त दर्शनके ब्रह्मसे पृथक् है। ब्रह्म एक और अद्वितीय है, परन्तु जीवोंकी संख्या अनन्त है। यह जीवतत्त्व सांख्यके पुरुषसे भी भिन्न है, क्यों कि यह नित्यशुद्ध और नित्यमुक्त नहीं है, बल्कि बंधनग्रस्त है। यह जीवतत्त्व न्याय और वैशेषिक दर्शनके आत्मासे भी भिन्न है, क्यों कि वह (जीवतत्त्व) जड़ नहीं है, साक्षात्

कर्ता है। बौद्ध जिसे विज्ञानप्रवाह कहते है, जीवतत्व वह भी नहीं हैं, क्यों कि जीव सत्, सत्य और नित्य पदार्थ है। जैन दर्शनमें जीवके अस्तित्व, चेतना, उपयोग, प्रभुत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, देहपरिमाणत्व और अमूर्तत्व आदि गुणोंका वर्णन है।

प्राणविद्या

प्राचीन जैनोंने जो जीवविचारका उपदेश किया है उसमें Biology विषयक आधुनिक खोजका पूर्वाभास भली भांति पाया जाता है। जैन पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुमें सूक्ष्म—एकेंद्रिय जीवोंका अस्तित्व मानते है। इस सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवपुञ्जको आज वैज्ञानिक—प्राणितत्ववेत्ता Microspic organisms कहते हैं। जैन वनस्पति-कायको एकेन्द्रिय जीव मानते हैं। वनस्पतिमें भी प्राण हैं, स्पर्शका अनुभव करनेकी शक्ति है, यह भी वे कहते हैं। इस आधुनिक युगमें आचार्य जगदीशचन्द्र बसुने वनस्पतिशास्त्र सम्बन्धी जो नवीन अनुसन्धान करके आश्चर्य फैला दिया है उसका मूल वस्तुत इस एकेंद्रिय जीववादमें छुपा हुआ था।

आत्मविद्या

जीवतत्वके समान ही जैनप्ररूपित आत्मविद्या—Psychology बहुतसे आधुनिक अन्वेषणोंका आभास पाया जाता है। जीवके गुणोंकी गणनामें हमने 'चेतना' और 'उपयोग'का उल्लेख किया है। यहां इन मुख्य गुणोंके विषयमें विशेष विचार करना है।

चेतना

चेतना तीन तरहसे होती है—कर्मफलानुभूति, कार्यानुभूति और

ज्ञानानुभूति। स्थावर जीव—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पतिके जीव—केवल कर्मफलकी अनुभूति करते हैं। त्रस जीव—दो, तीन, चार और पांच इंद्रियवाले जीव—अपने कार्यका अनुभव करते है। उच्च प्रकारके जीव ज्ञानके अधिकारी होते हैं। चेतनाके इन तीन प्रकार अथवा पर्यायोंको पूर्ण चैतन्यके क्रमविकासकी तीन मंजिले कहें तो अनुचित न होगा। जो लोग कहते है कि मनुष्यसे भिन्न जीव केवल अचेतन यंत्रके समान है उनका खंडन जैनोंने हजारों वर्ष पहिले किया है। आधुनिक युगमें क्रमविकासमय मनोविज्ञान Evolutionary Psychology के जो दो मूल सूत्र माने जाते हैं वे पहिलेसे ही जैन दर्शनमें मौजूद थे। वे दो सूत्र ये हैं—(१) मनुष्यसे भिन्न—निकृष्ट कोटिके—प्राणियोंमें एक प्रकारका—बिल्कुल नीची कोटिका—चैतन्य Sub-human consciousness होता है। इसी चैतन्यमेंसे मानव-चैतन्यका क्रमशः विकास होता है। (२) प्राण और चैतन्य Life and consciousness सर्वथा सहगामी होते है; Co-extensive है।

उपयोग

जीवका दूसरा विशिष्ट लक्षण उपयोग है। उपयोगके दो भेद है: एक दर्शनोपयोग और दूसरा ज्ञानोपयोग।

दर्शन

रूपादि विशेष ज्ञान-वर्जित सामान्यकी अनुभूतिको दर्शन कहते हैं। दर्शनके चार भेद है—(१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षु-दर्शन, (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन। चक्षु संबन्धी अनुभूतिमात्रका नाम चक्षुदर्शन है। शब्द, रस, स्पर्श और गन्धकी

अनुभूतिको अचक्षुदर्शन कहते है। अवधि और केवल असाधारण दर्शन हैं। स्थूल इन्द्रियोंसे अगम्य विषयकी अवधिवाली अनुभूतिको अवधिदर्शन कहते हैं। Theosophist संप्रदाय जिसे Clairvoyance कहते हैं, कुछ अंशोंमें अवधिदर्शन उसीके समान है। विश्वकी समस्त वस्तुओंके अपरोक्ष अनुभवका नाम केवलदर्शन है।

ज्ञान

दर्शनके पश्चात् ज्ञानके उदयको उपयोगका दूसरा भेद कहे तो कह सकते हैं। ज्ञान प्रथमतः दो प्रकारका है : एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। मति, श्रुत आदि अष्टविध ज्ञान इन दो प्रकारके ज्ञानके अन्तर्गत आ जाता है। उनमें 'कुमति' मतिज्ञानका, 'कुश्रुत' श्रुतज्ञानका और 'विभंग' अवधिज्ञानका आभास अर्थात् Fallacious forms मात्र होता है।

मति

दर्शनके पश्चात् इन्द्रियज्ञानकी अपेक्षासे जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाम मतिज्ञान है। मतिज्ञानके तीन भेद हैं : उपलब्धि, भावना और उपयोग। इस तीन प्रकारके मतिज्ञानको जैन दार्शनिक बहुधा पांच भेदोंमें विभक्त करते हैं —मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और आभिनिबोध।

(शुद्ध) मति

दर्शनके पश्चात् तुरन्त ही जो वृत्ति उत्पन्न होती है उसे उपलब्धि अथवा शुद्ध मतिज्ञान कहा जाता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान इसे Sence instution अथवा Perception कहता है। जैन दार्शनिक

मतिज्ञानके दो भेद करते है। जिस मतिज्ञानका आधार बाह्य इन्द्रियां हैं वह इन्द्रियनिमित्त मतिज्ञान; और जो केवल अनिन्द्रिय है अर्थात् मनकी अपेक्षा रखता है वह अनिन्द्रियनिमित्त मतिज्ञान कहलाता है। दार्शनिक Locke ने Idea of sensation और Idea of reflection नामक जिन दो चित्तवृत्तियोंका निरूपण किया है तथा आधुनिक दार्शनिक जिन्हे Extraspection (बहिरनुशीलन) और Introspection (अन्तरनुशीलन) द्वारा प्राप्त ज्ञान कहते है उन्हींको जैन दार्शनिक क्रमश. इन्द्रियनिमित्त मतिज्ञान तथा अनिन्द्रियनिमित्त मतिज्ञान कहते है, ऐसा कह सकते है।

कर्ण आदि पांच इन्द्रियोंके भेदसे इन्द्रियनिमित्त मतिज्ञान भी पांच प्रकारका है।

जिस प्रकार वर्तमान युगके वैज्ञानिकोंने Perception में विभिन्न प्रकारकी चित्तवृत्तियोंका पता लगाया है, उसी प्रकार अति प्राचीन कालमें जैन पण्डितोंने मतिज्ञानमें चार प्रकारकी वृत्तियां मालूम की थी। उन्होंने इन्हे अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा नामसे क्रमबद्ध किया है।

अवग्रह

अवग्रह बाह्य वस्तुके सामान्य आकारको पहिचान कराता है। इस बाह्य वस्तुके स्वरूपका सुनिश्चित, सविशेष ज्ञान अवग्रहसे नहीं प्राप्त होता। यह Sensation अथवा कुछ अंशोंमें Primum Cognitum है।

ईहा

अवग्रहग्रहीत विषय पर ईहाकी क्रिया होती है। अवग्रहीत विषयके

संबन्धमें अधिक—विशेष जाननेकी स्पृहाका नाम ईहा है। अर्थात् अवग्रहीत विषयके प्रणिधान Perceptual attention (विचारणा)को ईहा कहते हैं।

अवाय

यह परिपूर्ण इन्द्रियज्ञानकी तीसरी भूमिका है। ईहित विषयके संबन्धमें सविशेष ज्ञानका नाम अवाय है। इसे Perceptual determination (निर्धार) कह सकते है।

धारणा

धारणा इन्द्रिय ज्ञानके विषयको स्थितिशील करती है। इसे Perceptual retention कह सकते हैं। धारणाकी भूमिका ही इन्द्रियज्ञानकी परिपूर्णता है।

अवग्रह आदिके और भी बहुतसे सूक्ष्म भेद हैं, परन्तु विस्तार हो जाय या विषय क्लिष्ट हो जाय इस भयसे उन्हे छोड़ दिया गया है।

विद्वज्जन इतने ही से यह बात समझ सकते है कि आधुनिक युरोपीय विद्वानोंने Perception के विकासका जो क्रम बतलाया है उसका विवरण जैन पण्डितोंने पहिले ही से शुद्ध मतिज्ञानके प्रकरणमें कर दिया है।

स्मृति

मतिज्ञानके दूसरे प्रकारका नाम स्मृति है। इससे इन्द्रियज्ञानके विषयका स्मरण होता है। स्मृतिको पाश्चात्य वैज्ञानिक Recollection अथवा Recognition कहते हैं। Hobbes के मतानुसार तो

स्मरणका विषय अथवा Idea केवल मरणोन्मुख इन्द्रियज्ञान है — Nothing but decaying sense। Hume भी यही मानता है। दार्शनिक Reid इस सिद्धान्तका उत्तम रीतिसे खण्डन करता है। वह कहता है कि स्मरणके विषयको इन्द्रिय-ज्ञान-विषयकी अपेक्षा अवश्य है और उसमें सादृश्य भी है, तथापि कितने ही अंशोंमें यह विषय नवीन है। ऐसा माल्म होता है कि जैन पण्डितोंने हजारों वर्ष पूर्व स्मृतिज्ञानके विषयमें जो निर्णय किया था उसीका ये वैज्ञानिक मानों अनुवाद कर रहे हैं; और यह कुछ कम आश्चर्यकी बात नहीं है।

संज्ञा

संज्ञाका दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान है। पाश्चात्य मनोविज्ञानमें इसे Assimilation, Comparison और Conception कहते हैं। अनुभूति अथवा स्मृतिकी सहायतासे विषयकी तुलना या संकलना द्वारा ज्ञान संगृहीत करनेको प्रत्यभिज्ञान कहते है। इस प्रत्यभिज्ञानकी सहायतासे चार प्रकारका ज्ञान प्राप्त हो सकता है—(१) गवय (नीलगौ) नामक प्राणी गाय जैसा होता है। अंग्रेज़ीमें इस ज्ञानको Association by similarity कहते है। (२) भैंस नामक प्राणी गायसे भिन्न प्रकारका होता है अर्थात् Association by Contrast। गो-पिंड अर्थात् गाय-विशेषको देखनेसे गोत्व अर्थात् गो—सामान्य विषयक ज्ञान होता है। इस सामान्य ज्ञानको अंग्रेज़ीमें Conception कहते हैं। भिन्न भिन्न विषयोंके सामान्यको जैन दर्शनमें तिर्यक् सामान्य कहा है। इसका पाश्चात्य नाम Species idea है। (४) एक ही पदार्थकी भिन्न भिन्न परिणतिमें भी उसी एक एवं अद्वितीय पदार्थकी उपलब्धि होती

है। अंगूठी या कुंडलके भिन्न भिन्न आकारोंमें, भिन्न भिन्न अलंकार रूपमें परिणत होने पर भी, उनमें हम प्रत्यभिज्ञानके प्रतापसे सुवर्ण नामक मूल द्रव्यको ही देख सकते हैं। भिन्न भिन्न परिणतियोंमें जो द्रव्यगत ऐक्य, सामान्य है उसे जैन दर्शन ऊर्ध्वता-सामान्य कहता है। ऊर्ध्वता-सामान्यका पाश्चात्य नाम Substratum अथवा Esse है।

चिंता

साधारणतः चिन्ताको तर्क या ऊह कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञानसे प्राप्त दोनों विषयोंमे अच्छेद्य संबन्धकी खोज करना तर्कका काम है। पाश्चात्य मनोविज्ञान इसे Induction कहता है। युरोपीय पण्डित कहते हैं कि Induction, observation—भूयोदर्शनका फल है। जैन नैयायिक भी उपलम्भ और अनुपलम्भ द्वारा तर्ककी प्रतिष्ठा मानते हैं। दोनोंके कथनका तात्पर्य एक ही है। पाश्चात्य तार्किक Inductive Truth को एक Invariable अथवा Unconditional relationship कहते हैं जैनाचार्योंने कितनी ही शताब्दी पूर्व यही बात कह दी थी। उनके मतानुसार तर्कलब्ध सम्बन्धका नाम अविनाभाव अथवा अन्यथानुपपत्ति है।

अभिनिबोध

तर्कलब्ध विषयकी सहायतासे होनेवाले अन्य विषयके ज्ञानको अभिनिबोध कहते है। साधारणतः अभिनिबोधको अनुमान माना जाता है। इसीको पाश्चात्य ग्रन्थोंमें अनुमान Deduction, Retiocination अथवा Syllogism नाम दिया गया है। धुवां देखकर यह कहना कि 'पर्वतो वह्निमान्' (पर्वतमें अग्नि) है—इस प्रकारके बोधका नाम अनुमान

है। इनमें पर्वत 'धर्मी,' किंवा 'पक्ष'; वह्नि 'साध्य'; और धूम 'हेतु', 'लिंग' अथवा 'व्यपदेश' है। पाश्चात्य न्यायग्रन्थोंमें Syllogism के अन्तर्गत इन्हीं तीन विषयोंकी विद्यमानता दिखती है। इनके नाम Minor term, Major term और Middle term हैं। अनुमान व्याप्तिज्ञान पर—अर्थात् अग्नि और धूममें जैसा अविनाभाव संबन्ध है उस पर—प्रतिष्ठित है। यह व्याप्तितत्व पाश्चात्य न्यायके Distribution of the middle term के अन्तर्गत है। जैन दृष्टिसे अनुमानके दो भेद हैं—(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। जिस अनुमान द्वारा अनुमापक स्वयं किसी तथ्यकी खोज करता है उसे स्वार्थानुमान, और जिस वचन-विन्यास द्वारा उक्त अनुमापक अन्यको वह तथ्य समझाता है उसे परार्थानुमान कहते हैं। ग्रीक दार्शनिक Aristotle अनुमानके तीन अवयव बतलाता है—(१) जो जो धूमवान् है वह वह्निमान् है, (२) यह पर्वत धूमवान् है, (३) अत एव यह पर्वत वह्निमान है। बौद्ध अनुमानके तीन अवयव इस प्रकार बतलाते हैं—(१) जो धूमवान् है वह वह्निमान् है। (२) यथा महानस (३) यह पर्वत धूमवान् है। मीमांसक भी अनुमानके तीन अवयव मानते हैं। इनके मतानुसार अनुमानके ये दो रूप हो सकते हैं : प्रथम रूप—(१) यह पर्वत वह्निमान् है, (२) क्यों कि यह धूमवान् है, (३) जो धूमवान् होता है वह वह्निमान् होता है, यथा महानस। द्वितीय रूप—(१) जो धूमवान् है वह वह्निमान् है, यथा महानस। यह पर्वत वह्निमान् है। नैयायिक अनुमानको पञ्चावयव मानते हैं। उनके मतानुसार अनुमानका आकार यह होगा—(१) यह पर्वत वह्निमान् है, (२) क्यों कि यह धूमवान् है। (३) जो

धूमवान् होता है वह वह्निमान् होता है यथा महानस। (४) यह पर्वत धूमवान् है, (५) इस लिये यह वह्निमान् है। अनुमानके ये पांच अवयव क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमनके नामसे प्रसिद्ध है। जैन दर्शनके नैयायिक कहते हैं कि उदाहरण, उपनय और निगमन निरर्थक है। जैन अनुमानके दो अवयव मानते हैं–(१) यह पर्वत वह्निमान् है, (२) क्यों कि यह धूमवान् है। जैन कहते है कि कोई भी बुद्धिमान् प्राणी इन दो अवयवोंसे ही अनुमानके विषयको समझ सकता है। अत एव अनुमानके अन्य अवयव बेकार है। परन्तु यदि श्रोता अल्पबुद्धि हो तो उसके लिये जैन लोग नैयायिकोंके पांच अवयवोंका स्वीकार करते ही हैं, इतना ही नहीं इसके अतिरिक्त प्रतिज्ञाशुद्धि, हेतुशुद्धि जैसे और भी पांच अवयव बढाकर अनुमानके दस अवयव बनाते हैं।

श्रुतज्ञान

अनुमान तक मतिज्ञानका, अर्थात् इन्द्रियसंश्लिष्ट ज्ञानका अधिकार है। श्रुतज्ञान नित्य-सत्यके भण्डाररूप है; इसीका दूसरा नाम आगम है। जैन ऋग्वेदादि चार वेदोंको आगम या प्रमाणरूप नहीं मानते। वे कहते है कि जिन्होंने अपनी साधना—तपश्चर्याके बलसे लोकोत्तरत्व प्राप्त किया है उन्हीं सिद्ध, सर्वज्ञ, तीर्थंकर भगवानके वचन सर्वोत्कृष्ट आगम हो सकते हैं। कभी कभी जैन अपने आगमको वेद भी कहते हैं और उन्हे चार भागोंमें विभक्त करते हैं। जिस प्रकार मतिज्ञानके अवग्रहादि चार भेद अथवा पर्याय हैं उसी प्रकार वे श्रुतज्ञानके भी लब्धि, भावना, उपयोग और नय ये चार भेद करते हैं। ये चार भेद वस्तुतः व्याख्यान-भेदमात्र हैं। इस व्याख्यानप्रणालीको

कुछ अंशोंमें पाश्चात्य तर्कविद्या विषयक Explanation के समान कह सकते है।

लब्धि

किसी भी पदार्थको, उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले किसी भी विषयकी सहायतासे समझानेका नाम लब्धि है।

भावना

किसी भी विषयको, पूर्व अवधारित किसी विषयके स्वरूप, उसकी प्रकृति अथवा क्रियाकी सहायतासे समझानेके प्रयत्नको भावना कहते है। भावना विषय-व्याख्यानकी एक अति उन्नत प्रणाली है। यह पदार्थ एवं तत्सम्बन्धी अन्य बहुतसी वस्तुओं पर विचार करके निर्णय करने योग्य पदार्थका निरूपण करनेको आगे बढती है।

उपयोग

भावना-प्रयोग द्वारा पदार्थका स्वरूपनिर्देश करनेका नाम उपयोग है।

नय

भारतीय दर्शनोंमें 'नयविचार' जैन दर्शनकी एक विशेषता है। पदार्थकी संपूर्णताकी ओर पूर्ण ध्यान दिये विना, किसी एक विशिष्ट दृष्टिकोणसे विषयकी प्रकृतिका निरूपण करना 'नय' कहलाता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नामसे नयके दो भेद हैं। द्रव्यार्थिक नयका विषय द्रव्य और पर्यायार्थिक नयका विषय पर्याय है। द्रव्यार्थिक नय नैगम, संग्रह और व्यवहार भेदसे तीन प्रकारका होता है। ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत भेदसे पर्यायार्थिक नय चार प्रकारका होता है।

नैगम

वस्तु-स्वरूपका विचार न करके, किसी एक ग्राह्य स्वरूप सम्बंधी विचार करनेका नाम नैगम है। कोइ व्यक्ति ईंधन, पानी और अन्य सामग्री लिये जाता हो, तब उससे पूछा जाय कि "तुम यह क्या करते हो?" तो वह उत्तरमें कहे कि "मुझे रसोई करनी है"। उसका यह उत्तर नैगमनयकी दृष्टिसे होगा। इसमें ईंधन, पानी तथा अन्य सामग्रीके स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा गया। केवल यही बतलाया गया है कि उसका क्या उद्देश्य है।

संग्रह

वस्तुके विशेष भावकी ओर ध्यान न देकर, वह वस्तु जिस भावसंबन्धसे अपनी जातिकी अन्य वस्तुओंके साथ सादृश्य या समानता रखती हो उसकी ओर ध्यान देनेका नाम संग्रहनय है। संग्रहनयसे पाश्चात्य दर्शनके Classification का मिलान कर सकते हैं।

व्यवहार

उपरोक्त—संग्रह—नयसे यह बिल्कुल अलग पडता है। सामान्य भावकी उपेक्षा करके विशिष्टताकी ओर ध्यान देनेका नाम व्यवहारनय है। पाश्चात्य विज्ञानमें इसे Spacification अथवा Individuation कहा जाता है।

ऋजुसूत्र

वस्तुकी परिधिको कुछ अधिक संकुचित करके, उसकी वर्तमान अवस्था द्वारा निरूपण करनेका नाम ऋजुसूत्र है।

शब्द

यह और इसके बादके दो नय शब्दके अर्थका विचार करते हैं। किसी शब्दका वास्तविक अर्थ क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर तीन प्रकारके नय अपनी अपनी पद्धतिसे देते है। प्रत्येक परवर्ति नय, अपनेसे पूर्ववर्ति नयकी अपेक्षा शब्दके अर्थको अधिक संकीर्ण बनाता है। 'शब्द-नय' शब्दमें अधिकसे अधिक अर्थका आरोपण करता है। इस शब्द-नयका आशय यह होता है कि एकार्थवाचक शब्द लिंग, वचनादि क्रमसे परस्पर भिन्न होने पर भी एक ही अर्थके द्योतक होते हैं।

समभिरूढ

समभिरूढ प्रत्येक शब्दके मूल धातुकी ओर ले जाता है। वह बतलाता है कि एकार्थवाचक शब्द भी वस्तुतः भिन्न भिन्न अर्थको द्योतित करते है। शक्र तथा पुरन्दर शब्द, शब्दनयके अनुसार एकार्थवाची हैं परन्तु समभिरूढके अनुसार शक्तिशाली पुरुष ही शक्र, और पुरविदारक ही पुरंदर कहलायेगा। अर्थात् इस नयके अनुसार शक्र और पुरन्दरका अर्थ भिन्न भिन्न है।

एवंभूत

जहां तक पदार्थ निर्दिष्ट रूपसे क्रियाशील होता है उसी समय तक उस पदार्थको तत्सम्बन्धी क्रियावाचक शब्दसे पहिचाना जा सकता है; उसके दूसरे क्षणसे उस शब्दका व्यवहार बन्द हो जाता है। जब तक पुरुष शक्तिशाली है तभी तक वह 'शक्र' है; शक्तिहीन होते ही यह व्यवहार बन्द हो जाता है अर्थात् फिर उसे शक्र नहीं कह सकते। इसे 'एवंभूत-नय' कहते है।

नयसे पदार्थका एकदेश मालूम होता है। पदार्थके यथार्थ और पूर्ण स्वरूपको जाननेके लिये जैनागम-स्वीकृत स्याद्वादका आश्रय लेना चाहिये। यह स्याद्वाद अथवा सप्तभंगी जैन दर्शनकी एक महानसे महान् विशिष्टता है।

स्याद्वाद

पदार्थ अगणित गुणके आधाररूप है। इन समस्त भिन्न गुणोंका पदार्थमें क्रमशः आरोप करनेका नाम स्याद्वाद नहीं है। एक एवं अद्वितीय गुणका पदार्थमें आरोपण किया जाय तो उसका सात प्रकारसे निरूपण हो सकता है—उसका वर्णन सात प्रकारसे किया जा सकता है। इस सप्तधा विवरणका नाम स्याद्वाद अथवा सप्तभंगी न्याय है। उदाहरणार्थ, घट नामक पदार्थमें अस्तित्व नामक गुणका आरोप करें तो उसका निरूपण निम्नलिखित विधिसे सात प्रकारसे कर सकते हैं—

(१) **स्यादस्ति घटः** अर्थात् किसी एक अपेक्षासे [किसी एक दृष्टिकोणसे—विचारसे] घट है ऐसा कह सकते है। परन्तु 'घट है' इसका अभिप्राय क्या है? इसका यह अर्थ नहीं कि घट एक नित्य, सत्य, अनन्त, अनादि, अपरिवर्तनीय पदार्थरूपमें विद्यमान है। 'घट है' इसका अर्थ यही है कि स्वरूपके विचारसे अर्थात् घटरूपसे, स्व-द्रव्यके विचारसे अर्थात् वह मिट्टीका बना है इस दृष्टिसे; स्व-क्षेत्रके विचारसे अर्थात् अमुक शहरमें (पटना शहरमे) और स्व-काल अर्थात् अमुक एक ऋतु (वसंत ऋतु)में वह वर्तमान है।

(२) **स्यान्नास्ति घटः** अर्थात् किसी एक अपेक्षासे घट नहीं है। पर-रूप अर्थात् पट-रूपमे, पर-द्रव्यके विचारसे अर्थात् स्वर्णमय

अलंकारकी अपेक्षासे, पर-क्षेत्र अर्थात् अन्य किसी शहरकी (गांधारकी) अपेक्षासे और पर-कालकी अर्थात् अन्य किसी ऋतु (शीतऋतु)की अपेक्षासे यह घट नहीं है, यह भी कह सकते हैं।

(३) **स्यादस्ति नास्ति च घटः** अर्थात् एक अपेक्षासे घट है और अन्य अपेक्षासे घट नहीं है। स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्रकी अपेक्षासे वह घट है और पर-द्रव्य, पर-क्षेत्रकी अपेक्षासे वह घट नहीं है। यह बात ऊपर कही जा चुकी है।

(४) **स्यादवक्तव्यः घटः** अर्थात् एक अपेक्षासे घट अवक्तव्य है। एक ही समयमें हमें ऐसा प्रतीत हो कि घट है और घट नहीं है तो इसका अर्थ यह हुवा कि घट अवक्तव्य हो गया, क्यों कि भाषामें कोई भी शब्द ऐसा नहीं है, जो एक ही समयमें अस्तित्व और नास्तित्वको प्रकट कर सके। तीसरे भेदमें हम जो घटका अस्तित्व देख आये है उसका आशय यह नही है कि जिस क्षणमें हमें घटका अस्तित्व प्रतीत होता है उसी क्षणमें उसका नास्तित्व प्रतीत होता है।

(५) **स्यादस्ति च अवक्तव्यः घटः** अर्थात् एक अपेक्षासे घट है और वह भी अवक्तव्य है। प्रथम और चतुर्थ भेदको एक साथ मिलानेसे यह भेद समझमें आ सकेगा।

(६) **स्यान्नास्ति च अवक्तव्यः-घटः** अर्थात् एक अपेक्षासे घट नहीं है और वह भी अवक्तव्य है। इस नयका आधार दूसरे और चौथे भेदका संकलन है।

(७) **स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यः घटः** अर्थात् एक

अपेक्षासे घट है, घट नहीं है, और वह भी अवक्तव्य है। यह सप्तम भेद तीसरे और चौथे भेदके योगसे बना है।

जैन दार्शनिकोंका कहना है कि यथार्थ वस्तुविचारके लिये यह सप्तभंगी अथवा स्याद्वाद अनिवार्य है। स्याद्वादका आश्रय लिये विना वस्तुका स्वरूप समझमें नहीं आ सकता। 'घट है' ऐसा कहनेमात्रसे उसका समस्त विवरण हो गया ऐसा नहीं कह सकते। 'घट नहीं है' ऐसा कहनेमें भी बहुत अपूर्णता रह जाती है। 'घट है और घट नहीं है' ऐसा कह देना भी काफी नहीं है। 'घट अवक्तव्य है' यह भी पूर्ण विवरण न हुवा। जैन इस बात पर बड़ा जोर देते है कि सप्तभंगीके एक दो भेदोकी सहायतासे वस्तु-स्वभावका पूर्ण निरूपण नहीं हो सकता।

और जैनोंका उक्त मन्तव्य नगण्य कह देने योग्य नहीं है। प्रत्येक भेदमें कुछ न कुछ सत्य तो अवश्य है। पूर्वोक्त सातों नयकी दृष्टिसे देखा जाय तभी पूर्ण सत्य एव तथ्य मालूम हो सकता है। जिस प्रकार अस्तित्वके विषयमें सप्तभंगीका क्रमश· व्यवहार हुआ है उसी प्रकार नित्यता आदि गुणों पर भी उसे घटा सकते हैं। अर्थात् पदार्थ नित्य है या अनित्य, यह जाननेके लिये भी जैन पूर्वोक्त सप्तभंगीका आश्रय लेते हैं। जैन सिद्धान्त तो कहता है कि पदार्थ-तत्वके निरूपणके लिये स्याद्वाद ही एकमात्र उपाय है।

द्रव्य

द्रव्यकी उत्पत्ति है और उनका विनाश भी है ऐसा हम सब मानते है। भारतवर्षमें बौद्ध और ग्रीसमें Heralitusके शिष्य द्रव्यको

अनित्य मानते थे, परन्तु वस्तुतः देखा जाय तो, दिखलाई देनेवाले उत्पत्ति और विनाशमें अर्थात् परिवर्तनमात्रके मूलमें एक ऐसा तत्त्व रहता है जो सदैव अविकृत ही रहता है। उदाहरणके लिये, स्वर्णालंकारके परिवर्तनमें सोना तो वहका वही रहेगा – केवल उसके आकारमें परिवर्तन होता रहता है। भारतवर्षमें वेदान्तियोने और ग्रीसमें Parmenidesके अनुयायियोंने परिवर्तनवाद जैसी वस्तुको ही उडा दिया है। उन्होंने द्रव्यकी नित्य सत्ता और अविकृति पर ही भार दिया है। स्याद्वादी जैन इन दोनों बातोंको अमुक अपेक्षासे स्वीकार करते है और अमुक अपेक्षासे इनका परिहार करते है। वे कहते है कि सत्ता भी है और परिवर्तन भी है। यही कारण है कि वे द्रव्यका वर्णन करते समय उसे 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त' कहते है। अर्थात् (१) द्रव्यकी उत्पत्ति है, (२) द्रव्यका विनाश है और (३) द्रव्यके भीतर एक ऐसा तत्त्व है जो उत्पत्ति-विनाशरूप परिवर्तनमें भी अविकृत-अपरिवर्तित और अटूट रहता है।

द्रव्य, गुण, पर्याय

द्रव्यका विचार करनेके समय उसके गुण और पर्याय पर भी विचार करना आवश्यक है। जैन लोग द्रव्यको कुछ अंशोंमें Cartesian के Substance के समान मानते है। द्रव्यके साथ जो चिरकाल अविच्छिन्न रूपसे रहता है अथवा जिसके बिना द्रव्य, द्रव्य ही नहीं रहता, उसे 'गुण' कहते है। द्रव्य स्वभावतः अविकृत रहकर अनन्त परिवर्तनोंके भीतर जो दिखलाई देता है वह पर्याय है। जैन जिसे पर्याय कहते हैं उसे Cartesian mode कहता है। जैन दृष्टिसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच अजीव द्रव्य हैं।

जीव भी द्रव्य है और सब मिलकर कुल छः द्रव्य हैं।

अवधिज्ञान

मति-श्रुतादि पंचविध ज्ञानमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पर विचार किया गया है। अब अवधिज्ञानादि पर विचार करेंगे।

जो सब रूप-विशिष्ट द्रव्य स्थूल इन्द्रियोंके लिये अगोचर है उनकी असाधारण अनुभूतिका नाम अवधिज्ञान है। आजकल जिसे Clair-voyance कहते हैं, कुछ अंशोंमें अवधिज्ञानकी उसके साथ तुलना कर सकते हैं। अवधिज्ञानके तीन भेद है – देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। देशावधि दिशा और कालसे सीमाबद्ध है। परमावधि असीम है। सर्वावधिके द्वारा विश्वके समस्त रूपयुक्त द्रव्योंका अनुभव हो सकता है।

मनःपर्यव

अन्यकी चित्तवृत्तिके विषयके अनुभवका नाम 'मन'पर्यवज्ञान' है। पाश्चात्य विज्ञानमें इसे टेलीपैथी अथवा Mind-reading कहते हैं। मन'पर्यवज्ञानके ऋजुमति तथा विपुलमति, ये दो भेद हैं। ऋजुमति संकीर्णतर है। विपुलमतिकी सहायतासे विश्वके समस्त चित्तसंबन्धी विषयोंका सूक्ष्म अवलोकन हो सकता है।

केवलज्ञान

चैतन्यमुक्त जीवोंके ज्ञानकी यह एकदम अन्तिम मर्यादा है। केवलज्ञानमे विश्वके समस्त विषयोंका समावेश हो जाता है। केवलज्ञान माने सर्वज्ञता ऐसा कह सकते हैं। केवलज्ञान आत्मामेंसे ही उत्पन्न

होता है। इसमें इन्द्रिय या अन्य किसी वस्तुकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती।

केवलज्ञानी मुक्तिको प्राप्त या मुक्त पुरुष होता है। यहां केवलज्ञानके साथ ही हमें जैन दर्शनकथित सात तत्वोंका स्मरण होता है। इन सात तत्वोंके नाम ये है—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

जीव, अजीव

जैन दर्शनानुसार जीव चेतनादि गुण विशिष्ट है। स्वभावतः शुद्ध जीव अनादि कालसे अजीवतत्वसे लिप्त है। इस अजीव तत्त्वसे छुटकारा पानेका नाम मुक्ति है।

आश्रव

स्वभावतः शुद्ध जीव जब राग-द्वेष करता है तब जीवमें कर्म-पुद्गल आश्रव प्राप्त करते है—प्रवेश करते है। आश्रवके दो भेद हैं—एक शुभ और दूसरा अशुभ। शुभ आश्रवसे जीव स्वर्गादिके सुखोंका अधिकारि बनता है और अशुभ आश्रवसे इसे नरकादिकी यातनाएं सहन करनी पड़ती हैं। आश्रवकालमें जो कर्म-पुद्गल जीवमें प्रवेश करते है उनकी प्रकृति आठ प्रकारकी होती है। ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म, वेदनीय कर्म, आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और अन्तरायकर्म।

जो कर्म ज्ञानको ढक लेता है वह ज्ञानावरणीय है। जिससे जीवका स्वाभाविक दर्शनगुण ढक जाता है वह दर्शनावरणीय है।

जो कर्म जीवके सम्यक्त्व और चारित्रगुणका घात करता है, जीवको अश्रद्धा और लोभादिमें फंसा देता है उसका नाम मोहनीय कर्म है।
वेदनीय कर्मके प्रतापसे जीवको सुख-दुःखरूप सामग्री प्राप्त होती है। आयुकर्मके परिणामस्वरूप जीव मनुष्यादिके आयुष्यको प्राप्त करता है। जीवकी गति, जाति, शरीर आदिके साथ नामकर्मका संबंध रहता है। उच्च या नीच गोत्र मिलनेका आधार गोत्रकर्म है। अन्तराय-कर्मसे दानादि सत्कार्यमें भी विघ्न पड़ता है। इस अष्टविध कर्मके अन्य बहुतसे भेद है, जिन्हे विस्तारभयसे छोड़ दिया गया है।

बंध

स्वभावत मुक्त जीव उपरोक्त कथनानुसार कर्मपुद्गलके आश्रवसे बन्धनग्रस्त रहता है। अजीव कर्मपुद्गलके साथ जीवके मिल जानेका नाम बंध है।

संवर

सांसारिक मोहमें पड़े हुवे जीवमें कर्मका आश्रव जिसके द्वारा रुक जाता है उसका नाम संवर है। संवर बंधनग्रस्त जीवको मुक्ति-मार्ग पर ले जाता है। जैन शास्त्रोंमें कथित तीन गुप्ति, पांच समिति, दशविध यतिधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस प्रकारके परिषहका जय, पांच प्रकारका चारित्र और बारह प्रकारका तप संवर साधनेके साधन है। इन सबके लक्षणोंका वर्णन करनेका यह स्थान नहीं है।

निर्जरा

कर्मके एकदेशीय क्षयका नाम निर्जरा है। उसके दो भेद हैं— एक सविपाक और दूसरा अविपाक। निर्दिष्ट फलभोगके पश्चात्

कर्मका जो स्वाभाविक क्षय होता है उसका नाम सविपाक निर्जरा है; और कर्मभोगसे पहिले ध्यानादि साधना द्वारा जो कर्मक्षय होता है उसका नाम अविपाक निर्जरा है।

मोक्ष

जीवके समस्त कर्मोका अन्त होने पर वह मोक्षको—स्वाभाविक अवस्थाको—प्राप्त करता है।

जैन शास्त्रमें मोक्षमार्गके १४ सोपानोका वर्णन है। इन्हे १४ गुणस्थानक कहा जाता है। यहां तो केवल उनके नाम ही लिख कर सन्तोष करता हूं। (१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) मिश्र, (४) अविरत सम्यक्त्व, (५) देशविरत, (६) प्रमत्तविरत, (७) अप्रमत्तविरत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्मसंपराय, (११) उपशांतमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगकेवली, (१४) अयोगकेवली। इन सबके लक्षणको छोड़ देता हुं।

मोक्षमार्ग

जैनाचार्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको—एकसाथ तीनोंको—मोक्षमार्गप्रापक—मोक्षमार्गमे लेजानेवाला—कहते हैं। इन्हें त्रिरत्न अथवा रत्नत्रयी भी कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन

जीव, अजीव आदि पूर्वकथित तत्त्वोंका जो विवरण किया उसमें अचल श्रद्धा रखनेका नाम सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्ज्ञान

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नामक तीन प्रकारके समारोप

अथवा ये तीन प्रकारकी भ्रान्तियां हैं। इन समारोपोंसे रहित-भ्रान्ति-रहित-ज्ञानका नाम सम्यग्ज्ञान है।

सम्यक्चारित्र

राग-द्वेषरहित होकर पवित्र आचरणका अनुष्ठान करनेका नाम सम्यक्चारित्र है।

उपसंहार

जैन विज्ञानका वर्णन करते समय, यहां और भी बहुतसी बातोंका उल्लेख करना आवश्यक है। परन्तु श्रोताओंको या वाचकोंको अरुचि न हो जाय—वे उकता न जाय—इस उद्देश्यसे मैंने यथाशक्य संक्षेप ही किया है। नहीं तो जैन काव्य, जैन कथा, जैन साहित्य, जैन नीतिग्रन्थ, जैन ज्योतिष, जैन चिकित्साशास्त्र आदिमें इतनी बाते, इतने सिद्धान्त और इतने ऐतिहासिक उपकरण है कि उनका उचित विवेचन किये विना साधारण जनता उन्हें समझ नहीं सकती। मैंने यहां जैन विज्ञानकी जो रूपरेखा दिखलाई है वह तो बिल्कुल साधारण है; इसे तो जैन दर्शनका केवल हाडपिंजर कहा जाय तो भी अनुचित न होगा।

प्रमाणाभास क्या है? वादविचार कैसा होता है? फलपरीक्षाकी पद्धति क्या है? इत्यादि बहुतसी बातें जैन दर्शनमें है। मैंने यहां उनको तो स्पर्श तक नहीं किया, तथापि मुझे विश्वास है कि सुज्ञ पुरुष इतने संक्षिप्त विवेचनसे ही इतना तो अवश्य समझ लेंगे कि आधुनिक विज्ञानके अधिकांश मूल सूत्र जैन विज्ञानमें है।

जैन विद्या भारतवर्षकी विद्या है। इसके पुनरुद्धारका उत्तरदायित्व भारतवर्ष पर है। भारतकी लुप्त विद्या और सभ्यताका पुनरुद्धार करनेमें

बंगाल सदैव अग्रणी रहा है। बंगालमें अद्यावधि वहुतसी प्राचीन जैन प्रतिमाएं मिली है। बंगालमें ही "सराक" नामक अहिंसाप्रिय जातिकी बस्ती होनेकी खवर मिली है। यद्यपि आजकल यह जाति हिन्दु समाजमें मिल गई है, फिर भी इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि यह जाति प्राचीन जैन समाजकी—श्रावकसमाजकी—उत्तराधिकारिणी है। इनके आचार, इनकी लोककथा और संस्कारोंसे इस सिद्धान्तको—इस जातिके श्रावक होनेकी बातको—विशेष पुष्टि मिलती है।

यह भी एक अनुमान होता है कि बंगालमें आज जिसे वर्दवान—वर्धमान नगर कहते है उसका संवन्ध जैन सम्प्रदायके अन्तिम-चोवीसवें तीर्थंकर श्रीवर्द्धमानस्वामीके नामके साथ होगा। श्रीमहावीरस्वामीके नाम पर बंगालकी भूमिमें वीरभूमि (वीरभूम ज़िला) नाम पड़ा हो यह भी स्वाभाविक है। बंगालमें जैन प्रतिमाओंके अतिरिक्त कहीं कहीं प्राचीन जैन मन्दिर भी पाये जाते है। बंगालके निकटवर्ती मगधमें जैन महापुरुषोंने वहुधा अपनी वीरगर्जना की है। यह सब देखते हुवे यदि सभ्यताभिमानी बंगाली लोग जैन विद्याके पुनरुद्धारमें पर्याप्त मनोयोग न दे तो यह उनके लिये एक आक्षेपकी वात होगी।

यहां एक और वात भी कह देना चाहता हूं। महात्मा गांधीजीके कथनानुसार अहिंसाधर्मके प्रतापसे भारतवर्षका राजनैतिक उद्धार होना चाहिये। इस राजनैतिक अहिंसाका आचरन सर्वप्रथम बंगालने ही कर दिखलाया था। इस अहिंसाका सूत्रपात कहासे हुवा? वेद-शासित धर्ममें अहिंसाकी प्रशंसा है—मै इस वातको अस्वीकार नहीं करता। बौद्ध भी अहिंसाको स्वधर्मके आधाररूप मानते है। परन्तु

भारतीय जैन समाज अन्योंकी भांति केवल अहिंसाके गीत गाकर ही नहीं बैठ रहता; वह तो मन, वचन, कायासे इस धर्मका पालन करता है। और बातोंमें जैन समाज भले ही पीछे रह गया हो, पर उसकी अहिंसाकी आराधना-भक्ति तो प्रशंसनीय है। जैन विद्याके पुनरुद्धारमें बंगाली विद्वान यथाशक्ति सहायता देनेके लिये तैयार रहें तो भारतीय सभ्यता चमक उठेगी। इस बातका पुनरुच्चारण करके मै इस निबन्धको समाप्त करता हूं।*

---

* बंगाली साहित्य-परिषदमें (राधानगरमें) यह निबंध पढा गया था।

जीव

जड़से भिन्न पदार्थोंको जैन दार्शनिक 'जीव' कहते है। योग और सांख्य दर्शनमें जिसे 'पुरुष' कहा गया है; न्याय, वैशेषिक और वेदान्त मतसे जो आत्मा है, वह जैन दर्शनकी दृष्टिसे जीव है। इतना होने पर भी इनके बीचका भेद मामूली नहीं है। सांख्य तथा योगदर्शन-प्रतिपादित 'पुरुष' के साथ जैन दर्शन-स्वीकृत जीवका भेद है। न्याय और वैशेषि कके आत्मा तथा जैन दर्शनके जीवके बीचमें भी भेद है। वेदान्तियोंका आत्मा और जैनोंका जीव भी एक नहीं है। चार्वाकमत-सम्मत निरात्मवादको भी जैन नहीं मानते। जैन दार्शनिकोंने बौद्धोंके विज्ञानप्रवाह-वादका भी खण्डन किया है। तब फिर जैन दर्शन-सम्मत जीवका लक्षण क्या है? द्रव्यसंग्रह और पंचास्तिकायमें उसकी व्याख्या इस प्रकारकी है:—

जीवो उवओगमओ अमुत्तो कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥ २१ ॥

—द्रव्यसंग्रह।

जीव उपयोगमय, अमूर्त, कर्ता, अपने देहके समान परिमाण-वाला, भोक्ता, संसारस्थ, सिद्ध और स्वभावसे ऊर्ध्वगतिवाला है।

जीवोत्ति हवदि वेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता च देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥
—प. स. स.।

जीव अस्तित्ववाला, चेतन, उपयोगविशिष्ट, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहमात्र, अमूर्त और कर्मसंयुक्त है।

श्रीवादिदेवसूरि भी प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार (७—५६) में कहते हैं कि—

"चैतन्यस्वरूपः, परिणामी, कर्ता, साक्षाद्भोक्ता, स्वदेहपरिमाणः, प्रतिक्षेत्रं विभिन्नः, पौद्गलिकादृष्टवांश्चायम्।"

उपरोक्त वचनों पर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि जैन दर्शनानुसार जड़से भिन्न जो जीव है वह सत्य पदार्थ है। वह चेतन, अमूर्त, संसारी दशामें कर्मवश, कर्ता, भोक्ता, देहप्रमाण और प्रभु इत्यादि लक्षणवाला है।

चार्वाक तो जड़से भिन्न पदार्थका अस्तित्व ही नहीं स्वीकार करते। वे पृथ्वी, पानी, वायु और तेज—इन चार पदार्थोंको ही मानते हैं और कहते हैं कि इनके सिवाय अन्य एक भी एकान्त सत् पदार्थ नहीं हैं। उनका मत है कि जगतके समस्त पदार्थ इन्हीं चार महाभूतोंके संमिश्रणसे उत्पन्न होते हैं। मनुष्यादि जीव चेतन हैं, इससे तो वे इन्कार नहीं कर सकते; परन्तु चैतन्य है, इस लिये आत्माके म न कोई पदार्थ होना चाहिये, इस बातको वे स्वीकार नहीं करते। जिस प्रकार धान्य और गुड़ आदि पदार्थ सड़ते सड़ते सुरारूपमें परिणमित हो जाते हैं उसी प्रकार उपरोक्त चार महाभूतोंसे ही चैतन्य

परिणमित होता है। चार्वाकोंका यह सिद्धान्त है।

वर्तमान युगके कतिपय जड़वादी कुछ अंशोंमें इसी सिद्धान्तकी दुन्दुभि बजा रहे है। वे कहते है कि जिस प्रकार यकृतमेंसे एक प्रकारका रस निकलता है उसी प्रकार मस्तकमेंसे चैतन्य उत्पन्न होता है। अत एव जड़ पदार्थसे भिन्न आत्मा नामक पदार्थकी — किसी स्वतन्त्र पदार्थकी — सत्ता माननेकी आवश्यकता नहीं है।

इन सबको उत्तर देना चाहें तो कह सकते है कि, धान्य, गुड़ आदिमेंसे जो परिणमित होता है वह वस्तुतः जड़ ही है। यकृतमेंसे जो रस निकलता है वह भी जड़ है। ऐसा नियम है कि जड़मेंसे जड़ पदार्थ ही उत्पन्न हो सकता है। मस्तकमेंसे भी ऐसा ही जड़ पदार्थ उत्पन्न होना संभव है। जड़मेंसे जड़से सर्वथा भिन्न पदार्थ कैसे पैदा हो सकता है? चैतन्य जड़का परिणाम कैसे हो सकता है? इस तर्क पर विचार करके, कुछ आधुनिक अध्यात्मवादी दार्शनिक जड़वादका त्याग करके चैतन्यकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करनेकी ओर आकर्षित हुवे है। बौद्ध जड़से चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं मानते, उन्होंने विज्ञानकी क्षणिक सत्ता मानकर जड़वादको पीछे हटा दिया है। जैनोंने जीवमें चैतन्यगुण स्वीकार करके अध्यात्मवादकी नींव खूब मज़बूत कर दी है। जैनोंने चार्वाकों और बौद्धोंको प्रबल उत्तर दिया है।

चार्वाक मतके खण्डनमें जैन कहते है कि यदि जड़मेंसे ही चैतन्य उत्पन्न होता हो तो प्राणीकी मृत्युके पश्चात चैतन्य क्यो नहीं दीखता? मृत्युके पश्चात् शरीर तो जैसेका तैसा ही रहता है. उसका कोई अंश कम नहीं हो जाता; मृत्यु होते रोग चला जाता है। उस रोगके

जानेके वाद अकेला शरीर पड़ा रहता है, वह तो आपके सिद्धान्तानुसार सर्वथा नीरोग-स्फूर्तियुक्त होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता। इसीसे हम कहते है कि जड़ शरीर कदापि चैतन्यका कारण नहीं हो सकता।

शरीरको चैतन्यका सहकारी कारण कहा जाय तो भी ठीक नहीं है, क्यों कि चैतन्यका एक अशरीरी—अजड़—उपादान तो आपको मानना ही पड़ेगा। परन्तु ऐसा मानने पर आपका सिद्धान्त मिथ्या हो जायगा। यह बात आपको अनुकूल न होगी।

यदि शरीरको ही चैतन्यका उपादानकारण माना जाय तो भी काम नहीं चल सकता, क्यों कि ऐसा मान लें तो जब कभी शरीरमें विकार उत्पन्न हो तब चैतन्यमें भी वैसा ही विकार आ जाना चाहिये, पर ऐसा अनुभव नहीं होता। इसके अतिरिक्त आनन्द, भय, शोक, निद्रा, मूर्च्छा जैसे विकार जब चैतन्यमें आते हैं तब शरीरमें भी उनके अनुरूप विकार दिखने चाहिये, परन्तु ऐसा होते हुवे नहीं देखा जाता।

एक और आपत्ति भी होगी। प्राणी जितना अधिक मोटा हो, बुद्धि भी उसकी उतनी ही अधिक होनी चाहिये परन्तु साधारणतः इसके विपरीत ही देखा जाता है। शरीर यदि चैतन्यका उपादान-कारण हो तो ऐसा क्यों नहीं होता? छोटे—पतले शरीरवाले प्राणी अधिक बुद्धिशाली देखे जाते है। इसके अतिरिक्त चैतन्यप्रवाहमें प्राणीको "अहं" ज्ञान रहता है अर्थात् सदैव यह ज्ञान रहता है कि "मैं हूं"। यह ज्ञान शरीरमेंसे उत्पन्न नहीं होता। यदि ऐसा होता तो "मेरा शरीर" यह प्रयोग कैसे संभव होता? जिसे "मैं" कहते हैं वह शरीरसे भिन्न और प्रत्यक्ष रूपसे सिद्ध हो सकनेवाली वस्तु है।

जैनोंसे बौद्ध दार्शनिक इस बातमें सहमत है कि, चैतन्य जड़ पदार्थका विकार नहीं है। परन्तु बौद्ध आत्मा नामक एक सत् पदार्थके अस्तित्वको नहीं मानते। वे कहते हैं कि प्रतिक्षण विज्ञानका उदय और लय होता रहता है। इस विज्ञानके मूलमें कोई स्थायी सत् पदार्थ नहीं है। एक क्षण जो विज्ञान संस्काररूप होता है, दूसरे क्षण वही विज्ञानका कारणरूप होता है; फिर वह कार्यरूप विज्ञान अपने बादके विज्ञानका कारण हो जाता है। इस प्रकार परस्परभिन्न क्षणिक विज्ञानसमूहमें परंपरासे कार्यकारणभाव रहता है। बौद्ध इसे विज्ञानप्रवाह कहते हैं, विज्ञानसंतान भी कहते है। इस प्रवाहरूप विज्ञानसंतानके अतिरिक्त आत्मा या जीव आदि अन्य कोई वस्तु नहीं है।

Hume, Mill आदि वर्तमान युगके Sensationist दार्शनिक भी बौद्धोंके समान विज्ञानवादी अथवा निरात्मवादी हैं। उन्होने एक चैतन्यधारी और अविच्छिन्नताकी कल्पना की है। बौद्ध दर्शनके विज्ञान-प्रवाहसे इसका मेल ठीक बैठता है।

इस निरात्मवादके विरुद्ध पहिली आपत्ति तो यही है कि, क्षणिक विज्ञानसमूहके मूलमें कोई नियामक—सत्पदार्थ नहीं है। दो पदार्थोंको जोड़नेवाली कोई वस्तु न हो तो ये दोनो अलग हो जाय, यह बात समझमें आने योग्य है। अत एव संतान अथवा विज्ञानप्रवाह असंभव हो जाता है। आत्मा न हो तो क्षणिक विज्ञानसमूहमें क्रम, व्यवस्था या शृंखला कैसे रह सकती है? यदि शृंखला न हो तो स्मृति (पहिलेके अनुभवका पुनःप्रबोध) और प्रत्यभिज्ञा (यह वही है) कैसे हो सकती है? वेदान्त दर्शनने भी इस विज्ञानवादका खंडन किया है। जैना-

चार्योंने भी चुन चुनकर इस विज्ञानवादके दोष बतलाये है ।

बौद्धोंके अनात्मवादके संबन्धमे जैनाचार्य कहते हैं कि यदि जीव जैसी कोई वस्तु न मानो तो फिर स्मृतिका होना असम्भव हो जायगा। सर्वथा पृथक् हो जानेवाले विज्ञानसमूहमें एकके अनुभवकी स्मृति दूसरेको कैसे हो सकती है? यदि ऐसा ही बनता हो तो फिर एक व्यक्तिका अनुभव अन्यकी स्मृतिका विषय होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता।

बौद्ध चैत्यवंदनामें विश्वास रखते है। जैनाचार्य कहते है कि, "आपके धर्ममें चैत्यवन्दना एक पुण्यकार्य है; और उससे उत्तम फलकी प्राप्ति होती है; परन्तु जो चैत्यवन्दन करता है वह दूसरे ही क्षणमें नहीं रहता—बदल जाता है। तब फिर चैत्यवंदनका सुफल किसे मिलेगा? इससे ऐसा होगा कि करेगा कोई और फल मिलेगा किसी औरको; अथवा करेगा कोई और उसका फल किसीको भी न मिलेगा। आपका सिद्धान्त "अकृताम्यागम" और "कृतप्रणाश" नामक दो बड़े दोषोंसे दूषित है। बिना किये भोगना पड़े और कृतकर्म निष्फल हो जाय, ये दोष कुछ ऐसे वैसे नहीं है। आपका अनात्मवाद तो वस्तुतः-कर्मफलवादके मूलमे ही कुठाराघात करता है।

युक्तिपूर्वक बौद्धोंका विरोध करनेमें जैन दर्शन और वेदान्त दर्शन एकमत हैं, परन्तु जैन और वेदान्तके मौलिक सिद्धान्तमें भेद है। वेदान्त दर्शन जीवात्माओंकी परामार्थिक सत्ता स्वीकार करनेसे सर्वथा इन्कार करता है। उसका मत है कि आत्मा एक और अद्वितीय है—

अद्वैत ब्रह्म है; असंख्य जीवात्मा, एक अद्वितीय—एकमात्र सत्य अद्वैत ब्रह्मके परिणाम अथवा विवर्तमात्र है। ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि, समस्त जीवोमें यही एक परमात्मा विराजमान है; एक आत्माके अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा, दूसरा कोई सत्पदार्थ नहीं है। Spinoza और Parmenides के मतके साथ वेदांतमतकी कुछ समानता है।

वेदांतके इस अद्वैत सिद्धान्तको जैन नहीं मानते। जैन दर्शनके मतानुसार आत्मा अथवा जीवोंकी संख्या अनन्त है एवं प्रत्येक जीव एक दूसरेसे स्वतन्त्र है। जीव स्वतन्त्र न होते, मूलतः सब जीव एक ही होते तो एक जीवके सुखसे सब जीव सुखी हो जाते, एकके दुःखसे सब दुःखी होते; एकके बन्धनसे सब बन्धनग्रस्त रहते और एककी मुक्तिसे सब मुक्त हो जाते। जीवोंकी भिन्न भिन्न अवस्था देखकर सांख्यदर्शनने आत्माके अद्वैतवादका परिहार किया और आत्माकी विविधता मानी। जैन दर्शनने "प्रतिक्षेत्रे भिन्न" कहकर सांख्यसम्मत जीवकी विविधता स्वीकार की है।

अद्वैतवादके विषयमे जैन दार्शनिक कहते है कि सत्ता, चैतन्य, आनन्द आदि कितने ही गुण ऐसे है कि जो सभी आत्मा अथवा जीवोंमें होते है। इस गुणसामान्यकी दृष्टिसे आत्मा या जीव एक है ऐसा कहे तो कह सकते है। समस्त जीवोमे इस प्रकारकी गुणसामान्यता होती ही है। वेदांतका अद्वैतवाद इस रीतिसे कुछ अंशोमें ठीक है, परन्तु प्रत्येक जीवमें विशिष्टता होती है इस बातका इन्कार नहीं किया जा सकता। इस विशिष्टताके कारण ही एक जीवको दूसरेसे भिन्न कहना पड़ता है। विशिष्टता न होती तो एक जीवके मोक्ष जाने पर सब

जीव मोक्ष प्राप्त कर लेते। अविशेषणभावके कारण जीव या आत्माका बहुत्व मानना पड़ता है।

आत्माकी विविधताके विषयमें सांख्य और जैन दर्शन एकमत होते हुवे भी वे जीवके कर्तृत्व और भोक्तृत्वके विषयमें भिन्न हैं। सांख्य मतानुसार पुरुष-आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध-मुक्त है; असंग, निस्पृह, अलिप्त और अकर्ता है। जगद्व्यापारसे उसका कोई संबन्ध नहीं है। प्रकृति ही सृष्टिकी रचना करती है, पुरुष कुछ नहीं कर सकता। वह फल भी नहीं भोगता। वह तो केवल निष्क्रिय और अभोक्ता है। जर्मन दार्शनिक कांटके कथनका भी यही अभिप्राय है। वह कहता है कि Noumenal self के साथ व्यावहारिक ज्ञानप्रवाहका कुछ संबन्ध नहीं है। सांख्य भी यही कहता है कि पुरुषका जगतके व्यापारके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

सांख्यदर्शनसे हम पूछ सकते है कि, "पुरुषमें कर्तृत्व नहीं है तो फिर बन्धन और मोक्ष किसके लिये है? आत्मा सुख दुःख न भोगता हो तो यह समस्त व्यवहार किस प्रकार चल सकता है?" इस प्रकार न्यायदर्शन सांख्यदर्शनकी अच्छी तरह खबर लेता है। न्यायदर्शन आत्मामें सुख, प्रयत्नादि गुणोंका आरोप करता है। जीवके एकान्त असंगत्वके विषयमें जैन दर्शन सांख्यका प्रतिवाद करता है और न्याय-दर्शनके साथ सहमत है।

जैन दर्शन सांख्यमतकी सुन्दर समीक्षा करता है। वह कहता है कि—पुरुष सर्वथा अकर्ता हो तो उसे किसी प्रकारका अनुभव न होवे। परन्तु "मै सुनता हूं, मैं सूंघता हूं" आदि प्रतीति तो हम सबको

होती ही है। अत एव आत्माका अकर्तृत्व हमारे अनुभवके विरुद्ध है।

आप कहेंगे कि "मै सुनता हूं, मै सूंघता हूं" इस प्रकारकी प्रतीति तो अहंकारसे उत्पन्न होती है, परन्तु आप स्वयं ही इस बातसे इन्कार करते है। आप सांख्यवादी लोग अनुभवको पुरुषकार्यरूप तो कहते ही है; अनुभवको अहंकारप्रसूत नहीं मानते। इस प्रकार आप पुरुषके कर्तृत्वको मान लेते है।

सांख्य कहते हैं कि, पुरुष स्वभावत· भोक्ता नहीं है; केवल उसमें भोक्तृत्वका आरोपण किया जाता है। क्यों कि जितना सुख-दु·ख है वह बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाता है और बुद्धि तो प्रकृतिकी है। अत एव "पुरुष सुख-दुःखका भोक्ता है" यह कल्पनामात्र है। प्रकृति-परिणामवाली बुद्धिमें सुख-दु ख संक्रांत होता है और शुद्धस्वभावी पुरुषमें इस सुख-दु·खका प्रतिबिम्ब पड़ता है। जैन इसका उत्तर देते हैं कि, पदार्थका एक परिणाम अर्थात् विकृति स्वीकार करो, वरना इस प्रतिबिम्बका उदय भी असम्भव हो जायगा। स्फटिकमें जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उससे स्फटिकका परिणाम मानना पड़ता है। अब यदि पुरुषमें सुख-दुःख प्रतिबिम्बित होता हो तो उसके द्वारा पुरुषमें एक प्रकारका परिणाम होता है, अर्थात् उसमें कुछ अंशोंमें भोक्तृत्व है, यह स्वीकार करना पडता है। और परिणाम होनेसे उसके कतृत्वका स्वीकार किये बिना नहीं चलेगा। यही कारण है जिससे जैन जीवको कर्ता और साक्षात् भोक्ता मानते है। आत्माको गुणाश्रयरूप मानते हुवे भी जैन मत न्यायमतसे कुछ भिन्न है। नैयायिक आत्माको (१) जडस्वभाव. (२) कूटस्थ नित्य और (३) सर्वगत मानते है। जैन दार्शनिक यहां अलग पडते है।

नैयायिकोंके मतानुसार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान, सुख आदि आत्माके गुण है। गुण गुणीके साथ समवाय संबन्धसे संबन्धित रहता है। अर्थात् ज्ञानादि गुण आत्माके साथ संलग्न तो अवश्य है, परन्तु स्वरूप और स्वभावसे आत्मा निर्गुण है। ज्ञान या चैतन्य आत्माका स्वभाव नहीं है। कैवल्यावस्थामें आत्मा स्वभावमें अर्थात् निर्गुणभावमें रहता हैं। ज्ञान यह कोई आत्माका स्वभाव नहीं है, इस लिये न्यायमतानुसार आत्मा स्वरूपसे अज्ञान, अचेतन अथवा जड़ स्वरूप है। जिस प्रकार ग्रीक दार्शनिक प्लेटोने Idea को Phenomenon के साथ एकान्त संयुक्त रूपसे मानते हुवे भी स्थान स्थान पर उसकी (Idea की) पूर्ण स्वतन्त्रताकी कल्पना की है उसी प्रकार नैयायिकोंने आत्माका ज्ञानादि गुणके साथ समवाय संबन्ध मानने पर भी उसके जडत्वरूप स्वातन्त्र्यको स्वीकार किया है। नैयायिक एक और बात भी कहतें है, और वह यह कि, जिस प्रकार आत्मा ज्ञानादि गुणोंसे स्वतन्त्र है उसी प्रकार वह पर्यायादि द्वारा भी अपरिवर्तित है। ज्ञानके साथ सम्बन्ध रहे या न रहे पर आत्मा सदैव कूटस्थ है, अपरिणामी है। तीसरी बात वे यह कहते हैं कि, आत्मा सर्वव्यापक और सर्वगत है। मूलतः वह जड़स्वरूप होनेके कारण यदि वह सर्वव्यापक न हो तो फिर आत्माका जगतके पदार्थोंके साथ संयोग या संबन्ध असम्भव हो जाय। और यदि आत्मा सर्वगत न हो तो विविध दिशा और देशोंमें स्थित परमाणुसमूहसे उसका युगपत् संयोग असम्भव हो जाय। और इस प्रकारका संयोग असंभव हो तो शरीरादिकी उत्पत्ति भी असंभव हो जाय। अत एव आत्मा सर्वव्यापक है।

यह तर्क सभी दर्शन नहीं मान सकते। सांख्य और वेदान्त आत्माको चैतन्यस्वरूप मानते हैं। आत्मा जड़ पदार्थ हो तो उससे पदार्थ-परिच्छेद असंभव हो जाय। वह अपरिणामी और कूटस्थ हो तो भी पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता। और यदि आत्मा सर्वव्यापक हो तो फिर विविध प्रकारका आत्मा माननेके बजाय वेदांतकथित '**एकमेवा-द्वितीयम्**'का सिद्धान्त मान लेनेसे ही काम चल सकता है। इन विरोधोंके कारण जैन मतने न्यायमतका परिहार किया है। वह बतलाता है कि जीव (१) चैतन्य स्वरूप है, (२) परिणामी है और (३) स्वदेहपरिमाण है।

जैन दर्शनका युक्तिवाद कितना सुन्दर है! वह कहता है कि, यदि आत्मा जड़स्वरूप हो तो उसे पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ आकाश लीजिए, वह जड़स्वरूप है, उसे पदार्थज्ञान नहीं हो सकता, तो फिर आत्माको कैसे हो सकता है? नैयायिक इसके उत्तरमें कहेंगे कि आत्मा जड़स्वरूप है सही, परन्तु वह समवाय सम्बन्धसे चैतन्य-समवेत है। आकाश तो सर्वथा जड़स्वरूप है इस लिए आकाशको पदार्थज्ञान नहीं होता, परन्तु आत्माको तो हो ही सकता है। यहां दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि, आकाश और आत्मा दोनों जड़स्वरूप हैं और आप कहते हैं कि एकको ज्ञान होता है और दूसरेको नहीं; लेकिन इस बातका प्रबल कारण आप नहीं जान सकते। वास्तवमें इसका यही अर्थ है कि आत्मामें स्वभावत: चैतन्य है।

नैयायिक कहते हैं—"परन्तु आत्माका आत्मत्व कहां जायगा? हमें जो यह निश्चय होता है कि 'मै हूं,' इसका कारण आत्मत्व—अहंत्व ही है। आत्मामें आत्मत्व—जाति होनेके कारण उसमें चैतन्य

रहता है और आकाशमें आत्मत्व नहीं है इस लिये उसमें चैतन्य भी नहीं है।" नैयायिकोंको इसके उत्तरमें कह सकते है कि आपका यह कहना तो ठीक है कि आत्मत्व—जाति आत्मामे समवाय संबन्धसे रहती है, परन्तु इससे आपकी युक्ति "अन्योन्यसंश्रय" दोषसे नहीं बच सकती। जिस प्रकार आत्मामे आत्मत्वका प्रत्यय होता है, आकाशत्वका नहीं होता; उसी प्रकार आकाशमें आकाशत्वका प्रत्यय होता है, आत्मत्वका नहीं होता। मतलब यह हुआ कि, किस पदार्थमें किस जातिका समवाय है यह बात उसके प्रत्ययसे सिद्ध होती है। और इस प्रत्यय-विशेषकी जांच करे तो आत्मामें आत्मत्व समवेत है इस लिये आकाशत्वका प्रत्यय नहीं होता और आकाशमें आकाशत्व है इस लिये उसमे आत्मत्वका प्रत्यय नहीं होता। सारांश यह कि यह युक्ति निरर्थक है।

जैनाचार्य कहते है कि, आत्मामें जो आत्मत्वका प्रत्यय होता है वही उसके चैतन्य, आत्माके स्वरूप अथवा उसकी प्रकृतिको सिद्ध करता है। आत्माके साथ चैतन्यका थोड़ा भी तादात्म्य न माने तो उपरोक्त प्रत्ययका आपको कोई भी कारण न मिलेगा।

न्यायाचार्य कहते हैं कि, आत्मामें चैतन्य समवाय संबन्धसे रहता है, ऐसी हम सबको प्रतीति होती है। इसके उत्तरमें जैनाचार्य कहते है कि, यदि आप प्रतीतिको ही प्रमाणभूत मानते है तो फिर आत्मा स्वयं ही चैतन्यस्वरूप है, ऐसी प्रतीति होती है, इसे क्यों नहीं मानते? "मै स्वयं अचेतन हूं – चेतनाके योगसे चेतन हूं" ऐसी प्रतीति किसीको नहीं होती। सबको ऐसी ही प्रतीति होती है कि "मै स्वभावतः ज्ञाता हूं।"

घट पटादि अचेतन हैं, उसे "मै ज्ञाता हूं, ज्ञानवान हूं" यह प्रतीति नहीं होती। यदि आत्मा अचेतन होता तो घट पटादिको भी ऐसी प्रतीति हो सकती थी। जैनाचार्योंकी युक्ति ठीक ठीक समझमें आने योग्य है। आत्मा जड़स्वभाववाला होता तो अर्थपरिच्छेद सर्वथा अशक्य हो जाता।

नैयायिक थोड़ा और आगे बढ़कर एक दूसरी युक्ति देते है। वे कहते हैं कि "मै ज्ञानवान हूं" ऐसा हमें जो प्रतीत होता है उससे सिद्ध होता है कि आत्मा और ज्ञान पृथक् पृथक् है — दोनों एक नहीं है। किसीको प्रतीत हो कि "मै धनवान हूं" तो इससे हम आत्मा और धनकी अभिन्नता नहीं मान लेते।

जैनाचार्य उत्तर देते है कि, इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञान अभिन्न सिद्ध होते है। आत्मा जडस्वभाव हो तो यह प्रतीति कदापि नहीं हो सकती कि "मै ज्ञानवान हूं"। यदि आप कहें कि आत्मा जडस्वभावी होते हुवे भी ज्ञानवान है तो फिर आप स्वयं ही अपने सिद्धान्तका खण्डन करते है।

'**नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः**' यदि ज्ञानरूप विशेषण गृहीत न हुवा हो तो आत्मारूप विशेष्यमें "मैं ज्ञानवान हूं" यह बुद्धि कैसे हो सकती है? अब यदि आप कहें कि आत्मा और ज्ञान, दोनों ही का ग्रहण होता है, तो दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस प्रकारका ग्रहण किस प्रकार हो सकता है? विशेषणभूत ज्ञानद्वारा इस प्रकारका ग्रहण संभव ही नहीं है. क्यों कि ज्ञान स्वयं अपने ही से पहिचाना जाय यह बात आपके अपने ही न्यायमतके विरुद्ध है। "**नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः**" को तो आप स्वयं भी मानते है।

कदाचित् आप कहें कि ज्ञानान्तर द्वारा इस प्रकारका ग्रहण हो सकता है, तो इसमें 'अनवस्था दोष' आ जाता है, क्यों कि यहां ज्ञानान्तर ज्ञानत्व विशेषणके ग्रहण बिना संभव नहीं है। प्रकट ही यह सिद्धान्त अनवस्था दोषसे दूषित है। जब तक आप ज्ञानके साथ आत्माकी अभिन्नताको न मानें तब तक "मैं ज्ञानवान हूं" यह प्रत्यय आपको नहीं होगा। यही कारण है कि जैन दर्शन न्यायदर्शनकथित आत्माके जडत्वसे इन्कार करता है।

नैयायिकोंका दूसरा सिद्धान्त यह है कि "आत्मा कूटस्थ नित्य है।" अर्थात् आत्मा सदैव अपरिवर्तित है। जैन आत्माको परिणामी कहकर इस मतका खण्डन करते हैं। वे युक्तिपूर्वक अपने सिद्धान्तकी स्थापना करते हैं: "ज्ञानोत्पत्तिके पहिले आत्माकी जो अवस्था थी वही अवस्था ज्ञानोत्पत्तिके समय भी रहे तो फिर उसे पदार्थका ज्ञान किस प्रकार हो सकता है?" सदैव अपरिवर्तित रूपमें रहनेको ही आप कूटस्थभाव कहते हैं। ज्ञानोत्पत्तिके पहिले आत्मा अप्रमाता है, परन्तु ज्ञानोत्पत्तिके समय वह प्रमाता है—पदार्थ-परिच्छेदक है: इस प्रकार आत्मामें एक प्रकारका परिवर्तन तो होता ही है। जब आप परिवर्तन मानते है तो फिर आत्माका कूटस्थभाव कहां रहा?

जैन आत्माको "स्वदेहपरिमाण" कहकर नैयायिकोंके इस सिद्धान्तका खंडन करते हैं कि आत्मा सर्वव्यापक है। जैन कहते हैं कि, आत्माको सर्वगत माननेके बाद उसके वैविध्यको माननेकी आवश्यकता ही कहां रहती है? विविध मनके साथके संयोग विविध प्रकारके आत्माका अनुमान

कराते हैं। पर यदि आत्मा सर्वगत व्यापक पदार्थ हो तो जिस प्रकार एक ही सर्वगत व्यापक आकाशके साथ विविध घटादिका संयोग होता है उसी प्रकार एक ही आत्माके साथ विविध मनोंका संयोग हो सकता है। आत्माको सर्वव्यापक माननेसे इस प्रकार युगपत् विविध शरीर और इन्द्रियादिका संयोग भी उसके साथ प्रतिपादित हो सकता है। इस प्रकार विविध आत्मा माननेकी आवश्यकता नहीं रहती।

यदि आप कहे कि, एक आत्माके साथ विविध शरीरादिका युगपत् संयोग होना असंभव है, क्यों कि आत्मामें परस्परविरोधी सुख-दुःखादि भाव उत्पन्न नहीं होते, तो इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि इस युक्तिसे आकाशमें एक ही साथ विविध भेरियोंका समवाय भी असंभव माना जायगा, क्यों कि सब भेरियोंके शब्दादि परस्पर विरोधी होनेके कारण एक भी शब्द सुनाई न देगा। यदि आप कहे कि प्रत्येक शब्दका कारण भिन्न भिन्न है इस लिये प्रत्येक शब्द परस्परविरोधी होनेपर भी सुनाई देता है; यही कारण है कि आकाश एक होने पर भी उसमें विविध भेरियोंका युगपत् समवाय हो सकता है। इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि प्रत्येक सुख-दुःखका कारण पृथक् पृथक् होता है, जिससे सुखदुःखादि परस्पर भिन्न होते हुवे भी उनका युगपत् अनुभव होता है। इस प्रकार एक ही आत्माके साथ अनेक शरीरा-दिका युगपत् संयोग होना सम्भव हो जाता है। यदि आप कहे कि विरुद्ध धर्मके अध्यासके कारण आत्माकी विविधता माननी पड़ती है, तो फिर आकाशकी विविधता क्यों नहीं मानते?

यदि आप कहें कि, आकाश है तो एक, तथापि वह बहुतसे

पदार्थोंको अवकाश देता है, तो इसका उत्तर यह है कि आत्मा भी एक ही है और उसमें समस्त शरीरादि पदार्थ प्रदेश प्रदेश पर संयुक्त रहते हैं। नैयायिक कहते हैं कि कोई मरता है, कोई जन्मता है और कोई कामकाजमें लगा रहता है, इन सब व्यापारोंको देखकर आत्माकी विविधता माननी पडती है। जैन इसका उत्तर देते है कि, आत्माका सर्व-गतत्व माननेसे, जन्म, मृत्यु आदि व्यापारके बारेमे आत्माका एकत्व ही सिद्ध होता है। कहीं घटाकाश उत्पन्न होता है तो अन्यत्र उसी समय दूसरे घटाकाशका विनाश भी होता है; शायद दूसरा एक घटाकाश पूर्ववत् रहता है। इन सब व्यापारोंको देखते हुवे भी यदि आकाशमें बहुत्व माननेकी आवश्यकता नहीं पडती तो फिर जन्म, मरण आदि व्यापारोंके कारण आत्मा एक होने पर भी उसमें वह सब बन सकता है। आत्माकी विविधता आप किस कारण मानते है? कोई कहे कि विविधता न माने तो बन्ध, मोक्ष असंभव हो जाय, क्यों कि एक ही वस्तुमें एकसाथ बंध, मोक्षरूपी विरुद्ध भावोंका एकसाथ समावेश नहीं हो सकता। पर इसके विरुद्ध यह तर्क किया जा सकता है कि, किसी एक घड़ेमें आकाशको बन्द कर देनेसे घटमुक्त आकाश रहेगा ही नहीं, और घटमुक्त आकाशके कारण घटबद्ध आकाश भी असंभव बन जाय। यदि आप कहेंगे कि प्रदेशभेदके कारण एक ही समय आकाशमें बन्धन और मोक्ष होना संभव है, तब फिर सर्वगत एक ही आत्मामें प्रदेशभेदकी कल्पना की जा सकती है और उसमें एक ही समयमें बन्धन और मोक्षका आरोपण हो सकता है। जैनाचार्योंके सम्पूर्ण कथनका आशय यह है कि, आत्माको सर्वगत और सर्वव्यापक

माना जाए तो फिर उसकी विविधताको स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

न्यायाचार्य कहते है कि, यदि आत्मा व्यापक पदार्थ न हो तो अनन्तदिग्देशवर्ती उपर्युक्त परमाणुओके साथ उसका संयोग संभव नहीं और इस प्रकारका संयोग संभव न हो तो फिर शरीरकी उत्पत्ति भी संभव नहीं। इसका उत्तर जैन इस प्रकार देते है कि, परमाणुसमूहको आकर्षित करनेके लिये – मिलानेके लिए आत्माको व्यापक पदार्थ होना ही चाहिये ऐसा नियम नहीं है। चुंबककी ओर लोहा आकर्षित होता है, परन्तु इससे हम उसे व्यापक पदार्थ नहीं मान लेते। कदाचित् आप आपत्ति लेो कि, ऐसे आकर्षणसे तो तीन लोकके परमाणु आत्माकी ओर खिंच आवेगे, फिर शरीरका प्रमाण किस प्रकार बनेगा? यदि शरीरप्रमाण अनिश्चित ही रहे तो आपके व्यापकवादमें भी यही आपत्ति आएगी। समस्त परमाणुओमें व्याप्त आत्मा समस्त परमाणुओको खींचे तो अन्ततः यही स्थिति होगी। यदि आप यह कहते हों कि अदृष्टके प्रतापसे शरीरोत्पत्तिके उपयोगी परमाणु ही आकर्षित होते है तो यही बात आत्माकी अव्यापकताको माननेवाले भी कहेगे।

जैनसम्मत शरीरपरिमाणवादके विषयमें नैयायिक एक और आपत्ति करते है कि, यदि यह माना जाय कि आत्मा शरीरके प्रत्येक अवयवमें प्रवेश करता है तो शरीरके समान आत्माको भी सावयव मानना पड़ेगा। आत्मा सावयव हो तो वह एक 'कार्य' हुवा और आत्मा कार्य हुआ तो फिर उसका कोई न कोई कारण भी अवश्य ही होना चाहिये। वह कारण विजातीय तो हो ही नहीं सकता, क्यों कि

अनात्मासे आत्माकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। सजातीय कारण मानना भी उचित नहीं है, क्यों कि सजातीय कारणोंमें भी आत्मत्व तो मानना ही होगा, अन्यथा वह सजातीय कारण ही नहीं हो सकता। इसका सार यह हुवा कि आत्मसमूहसे आत्माकी उत्पत्ति होती है। नैयायिक इस बातको अयौक्तिक मत कहते है। एक ही शरीरमें एकाधिक आत्माएं किस प्रकार कार्य कर सकते है? मान लीजिये, शरीरमें एकसे अधिक आत्मा कारणरूपसे कार्य करते हैं, तो एक कारणरूप आत्माका कार्य अन्य कारणरूप आत्माके कार्यसे किस प्रकार मेल खाएगा? ये दोनों कार्य किस प्रकार पूर्णतः एकत्वको प्राप्त होंगे? जिस प्रकार घटमें अवयव होते हैं और अवयवोंका संयोग नष्ट हो जानेसे घट ही नष्ट हो गया ऐसा हम कहते हैं उसी प्रकार आत्माके भी अवयव मानने पड़ेंगे और फिर आत्माको भी विनाशशील मानना पड़ेगा।

जैनोंका उत्तर यह है कि, हमारी जैन दृष्टिमें आत्मा कथंचित् सावयव अथवा कार्य है; वह पूर्णरूपसे सावयव और कार्यपदार्थ है ऐसा भी नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि, जिस प्रकार घड़ा समान जातीय अवयवोंसे बनता है उसी प्रकार आत्मा भी सजातीय कारणोंसे निष्पन्न होता है। आप आत्माको कार्य कहे तो कह सकते है, परन्तु 'कार्य' शब्दका अर्थ आप क्या करते है? पूर्व आकारका परित्याग करके दूसरे आकारमें परिणमित होना द्रव्यका कार्यत्व है। भिन्न भिन्न पर्याय-परिणति ही आत्माका कार्यत्व है। इस दृष्टिसे आत्मा कथंचित् अनित्य भी है। एवं एकके पश्चात् एक पर्याय परिणत होनेके कारण द्रव्यतः आत्मा अपरिवर्तित भी है। अत एव हम कहते है कि,

आत्मा यद्यपि सावयव और कार्य है तथापि वह अविच्छिन्न, अविभाग और नित्य भी है।

आत्माके शरीरपरिमाणत्वके विषयमें नैयायिक कहते है कि, जीवको स्वदेहपरिमाण मानोगे तो उसे एक मूर्त पदार्थ मानना पड़ेगा। अब यदि आत्मा मूर्त पदार्थ हो तो शरीरमें उसका अनुप्रवेश असंभव हो जायगा। एक मूर्त पदार्थमें अन्य मूर्त पदार्थ किस प्रकार प्रवेश कर सकता है? फिर तो आपको शरीरको निरात्मक ही मानना पड़ेगा।

एक और बात भी है: यदि आत्मा देहपरिमाण हो तो बाल-शरीरके पश्चात् युवकशरीरके रूपमें किस प्रकार परिणमित हो सकेगा? यदि आप कहें कि आत्मा बाल-शरीर-परिमाणका त्याग करके युवक-शरीर-परिमाण ग्रहण करता है तो शरीरके समान आत्मा भी अनित्य हो जायगा। और यदि यह कहा जाय कि बालक-शरीर-परिमाणका त्याग किए बिना ही आत्मा युवा-शरीर-परिमाणमें परिणत हो जाता है तो इसे तो एक असंभव व्यापार ही कहना पड़ेगा, क्यों कि एक परिमाणका त्याग किए बिना अन्य परिमाण किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है? अन्ततो गत्वा न्यायाचार्य कहते है कि, जीव तनुपरिमाण हो तो शरीरका एकाध अंश खण्डित होनेपर आत्माका भी किसी अंशमें खण्डित होना मानना पड़ेगा।

जैन दार्शनिक इसका उत्तर देते है: 'मूर्त' के माने क्या? यदि 'मूर्त' का अर्थ यह किया जाय कि आत्मा सर्व पदार्थोंमें अनुप्रविष्ट नहीं है, केवल स्वदेह-परिमाण ही है, तो जैन सिद्धान्तको इससे विरोध न होगा; परन्तु यदि आप मूर्त शब्दका अर्थ रूपादिमान करे तो फिर हमें उसका विरोध

करना पड़ेगा। आत्माके असर्वगत अर्थात् स्वदेहपरिमाण होनेसे उसका रूपवान अथवा मूर्त होना नियमेन आवश्यक नहीं है। मन असर्वगत है, परन्तु इससे उसे मूर्त पदार्थ नहीं माना जाता। आत्मा मूर्त पदार्थ नहीं है। जिस प्रकार शरीरमें मन प्रविष्ट होता है उसी प्रकार आत्माका प्रवेश भी समझना चाहिये। जैन कहते हैं कि, भस्मादि पदार्थोंमें जल आदि मूर्त पदार्थोंका प्रवेश होना संभव है तो फिर शरीरमें अमूर्त आत्माका अनुप्रवेश असंभव कैसे हो सकता है? आत्मा युवक—शरीर—परिमाण ग्रहण करनेके समय बाल-शरीर-परिमाणका त्याग करता है, यह बात मानी जा सकती है, इसमें कुछ असंगति नहीं है। सांप अपने छोटेसे फनको फैलाकर बड़ा बना देता है। उसी प्रकार आत्मा भी संकोच—विस्तार-गुणके प्रतापसे पृथक् पृथक् समयोंमें पृथक् पृथक् देहपरिमाण धारण कर सकता है। विभिन्न अवस्था अथवा पर्याय देखकर आत्माको परिवर्तनशील कहें तो कह सकते है, और इसी दृष्टिसे आत्मा अनित्य भी है। द्रव्यसे इससे विपरीत ही बात कहनी होती है। अर्थात् द्रव्यसे आत्मा अपरिवर्तित और नित्य है। शरीर-खंडनके बारेमें नैयायिक जो आपत्ति लेते हैं उसके उत्तरमें जैन कहते है कि शरीर खंडित होनेसे आत्मा खंडित नहीं होता, खंडित शरीरांशमें आत्माका प्रदेश विस्तार पाता है। खंडित शरीरांशमें एक हद तक आत्माका अस्तित्व न मानें तो उसमें (खंडित शरीरांशमें) जो कम्पन देखा जाता है उसका कोई अन्य कारण नहीं मिलता। खंडित अंशमें कोई पृथक् आत्मा तो है नहीं, जो है वह देहमें रहनेवाले देहपरिमाण आत्माका ही अंश है। शरीरके दो भागोंमें रहने पर भी आत्मा तो एक ही है। इस प्रकार युक्तिवादसे

जैनाचार्य आत्माके स्वदेह परिमाणत्वको भली भांति सिद्ध करते है।

न्यायमतका इस प्रकार खंडन करके जैन दार्शनिक युक्तिपूर्वक सिद्ध करते है कि आत्मा व्यापक नहीं बल्कि देहपरिमाण ही है। उनका अनुमान-प्रयोग भी यहां देखने लायक है। वे कहते है कि, आत्मा व्यापक नहीं है, क्यों कि वह चेतन है। व्यापक पदार्थ चेतन नहीं हो सकता। उदाहरण स्वरूप आकाश। आत्मा चेतन है इस लिये वह अव्यापक है। आत्मा अव्यापक है इसका अर्थ यही है कि वह देह-परिमाण है; क्यों कि शरीरमें उसका अस्तित्व देखा जाता है।

जैन सिद्धान्तानुसार जीव "कम्मसंजुतो" अथवा "पौद्गलिकादृष्ट-वान्" है, पहिले इस बातकी ओर संकेत किया जा चुका है। जो नास्तिक है—जो कर्मफल नहीं मानते, और परलोग भी नहीं मानते, वे भी जीवको अदृष्टवान कहकर अपने ही मतका खंडन करते है। कर्मके साथ फलका अच्छेद्य संबन्ध न माना जाय तो 'कृतप्रणाश' और 'अकृताभ्यागम' दोष आते हैं; यह बात भी पहिले कही जा चुकी है। सारांश यह कि परलोक माने बिना काम नहीं चल सकता। यदि कहा जाय कि परलोक प्रत्यक्ष दिखलाई नहीं देता, तो फिर उसे क्यों माना जाय? इसका समाधान यह है कि यह कहना ठीक नहीं है कि परलोक प्रत्यक्ष नहीं दीखता इस लिये उसे न मानना चाहिये। हम पितामह, प्रपितामह आदि अपने पूर्वजोंको नहीं देख सकते है, किन्तु इससे क्या यह कह सकते हैं कि वे थे ही नहीं? कोई नास्तिक यह कहे कि किसीने भी कभी परलोक नहीं देखा तो उसकी यह बात मानने योग्य नहीं है; क्यों कि वह कोई सर्वज्ञ नहीं है।

केवलज्ञानी पुरुष परलोक देख सकते हैं। जैन और आस्तिक भी यह बात मानते है।

नास्तिक यहां कहेंगे कि, परलोक हो तो उसका कुछ कारण भी तो होना चाहिये। वह कारण क्या है? परलोकका कारण अदृष्टको मानें तो 'अनवस्था' दोष आ जायगा। यदि यह कहो कि रागद्वेषादिके कारण परलोक है तो फिर आप निष्कर्म अवस्थाके विषयमें क्या कहेंगे? क्यों कि संसारीमात्र रागद्वेषवश होते हैं। यदि कहो कि हिंसादि क्रियाके लिये परलोक-व्यवस्था माननी ही चाहिये तो यह भी उचित नहीं है, क्यों कि कभी कभी क्रिया-फलका व्यभिचार देखा जाता है। हिंसादि पापकर्म करनेवाले धनधान्यके बड़े वैभवको भोगते देखे जाते हैं। दूसरी ओर सत्कर्म करनेवाले सज्जन पुरुषको अति दीन दशा भोगनी पड़ती है। इस प्रकार कर्मफल-व्यभिचार देखते हुवे यह नहीं कहा जा सकता कि कर्मफल है और अवश्य ही है। कर्मफल ही नहीं है तो फिर परलोक माननेकी क्या आवश्यकता रही?

जैन दार्शनिकोंने इन तीनों आपत्तियोंका उत्तर दिया है: वे नास्तिकोंसे कहते हैं कि, तुम्हारी बात अमुक अंशमें, अमुक अपेक्षासे ठीक है। परन्तु इससे परलोक या अदृष्टके सिद्धान्तमें कोई दोष नहीं आता। जैन मानते हैं कि, जीव अनादि कालसे कर्मसंयुक्त है। इसमें आप अनवस्था दोष बतलावे तो वह भूल है। रागद्वेषादिके कारण भवभ्रमण करना पडता है और इसी लिये निष्कर्मावस्था असंभव हो जाय, ऐसा आप कहे तो क्षणभरके लिये आपकी यह बात मान ली जा सकती है, परन्तु फिर भी परलोक तो आपको मानना ही पड़ेगा।

वास्तविक बात यह है कि, जब तक जीवकी मुक्ति नहीं होती तब तक वह रागद्वेषके वशीभूत रहेगा और कर्म तथा कर्मफलके चक्र पर चढ़ेगा। पापी दिखते पुरुषका वैभव वास्तवमें उसके पूर्व-जन्मके पुण्यका फल है। इसी प्रकार पुण्यात्मा पुरुषका दुःख उसके पूर्वजन्मके पापकर्मका परिणाम है ऐसा आपको समझना चाहिये। यह भी निश्चित है कि, भविष्यमें दुष्ट पुरुषकी दुर्गति और सज्जनकी उत्तम स्थिति होगी ही। बाहरसे दीखनेवाले सुख दुःखको देखकर कर्मफल और परलोकसे इन्कार करनेका साहस न करना चाहिये।

जैन लोग आगम-प्रमाणको मानते है और परलोककी पुष्टिमें उसका उपयोग भी करते है। "शुभः पुण्यस्य" "अशुभः पापस्य" अच्छे कर्मका फल भी अच्छा और बुरे कर्मका फल भी बुरा ही होगा, इस जिनवचनमें किसीको तनिक भी शंका न करनी चाहिये। अदृष्टके विषयमें आनुमानिक प्रमाण भी यथेष्ट मिल सकते है। एक गुणवती स्त्रीके एक साथ दो पुत्रोंका जन्म होता है। समय बीतने पर इन दोनों भाइयोंके बल विद्या आदिमें महदन्तर देखा जाता है। अदृष्टको न मानें तो बतलाइये इस विलक्षणताका आप क्या स्पष्टीकरण करेंगे?

जैन मतानुसार अदृष्ट पुद्गलघटित है। अर्थात दूसरे जन्ममें आत्मा किस प्रकारका शरीर धारण करेगा वह उसके पूर्वजन्मार्जित तत्संश्लिष्ट कर्मपरमाणुओंसे निर्दिष्ट होता है। आत्मा अदृष्टाधीन है। उसके पैरोंमें कर्मपुद्गल रूपी जंजीरें पडी है। नैयायिक अदृष्टको आत्माका विशेष गुण कहते है। सांख्यमतानुसार अदृष्ट प्रकृतिके विकारके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बौद्ध अदृष्टको वासनास्वभाव

कहते है । वेदान्ती उसे अविद्यारूप मानते हैं । जैन अदृष्टको पौद्गलिक सिद्ध करके इन सब मतोका परिहार कर देते हैं ।

जीव अथवा आत्माके विषयमें जैन क्या मानते हैं इसका मैंने संक्षेपमें वर्णन किया है । सांख्यादि मतोंके साथ जैन मत कुछ अंशोंमें मिलता है तो कुछ अंशोंमें भिन्न है । इससे इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि, जैन दर्शन भारतवर्षका एक अति प्राचीन—स्मरणातीत युगका—दर्शन है । यह बात बिल्कुल मानने लायक नहीं है कि, जैन दर्शनका प्रादुर्भाव बौद्ध युगके बादमें हुवा है, अथवा गौतमबुद्धके समयका यह एक विचारप्रवाह है । न्याय, वेदान्तादि दार्शनिक मतोंके साथ यदि जैन सिद्धान्तोंकी कुछ समानता प्रतीत होती हो, जैन दर्शनमें किसी प्रकारकी विशिष्टता दिखलाई देती हो तो हम सहज ही में यह अनुमान कर सकते है कि इतिहासके जिस विस्मृत युगमें न्यायादि मतोंका प्रचार हुवा है, उसी युगमें जैन सिद्धान्तोंका भी प्रचार हुवा होना चाहिये । और इतिहास एवं पुरातत्त्व यही बात सिद्ध करता है ।

जीव

(२)

'द्रव्यसंग्रह'के कथनानुसार जीव उपयोगमय, अमूर्त, कर्ता, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, संसारस्थ, सिद्ध और स्वभावतः ऊर्ध्वगति है।

'तत्त्वार्थसार'में इसके अनेक भेदोंका वर्णन है—

सामान्यादेकधा जीवो बद्धो मुक्तस्ततो द्विधा।
स एवासिद्धनोसिद्धसिद्धत्वात् कीर्त्यते त्रिधा॥

श्वभ्रतिर्यङ्नरामर्त्यविकल्पात्स चतुर्विधः।
प्रशमक्षयतद्द्वन्द्वपरिणामोदयो भवेत्॥

भावपंचविधत्वात् स पंचभेदः प्ररूप्यते।
षण्मार्गगमनात् षोढा सप्तधा सप्तभंगतः॥

अष्टधाष्टगुणात्मत्वादष्टकर्मकृतोपि च।
पदार्थनवकात्मत्वात् नवधा दशधा तु सः॥

दशजीवभिदात्मत्वादिति चिन्त्यं यथागमम्।

३२४–३२७ तत्त्वार्थसार।

सामान्य दृष्टिसे देखा जाय तो जीव एक ही प्रकारके हैं। उसमें भी बद्ध और मुक्त ऐसे दो भेद होनेसे जीव दो प्रकारके हैं। असिद्ध, नोसिद्ध और सिद्ध भेदसे जीवके तीन भेद हैं। गतिभेदसे

जीव चार पर्यायमें विभक्त है--देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यंच। और उपशम, क्षय, क्षयोपशम, परिणाम और उदय -- इन भावभेदोंसे जीव पांच प्रकारके है। ज्ञानमार्गकी दृष्टिसे जीवके छ' विभाग कर सकते है। और सप्तभंगीके भंगानुसार उसके सात भेद होते है। जीवके स्वाभाविक आठ गुणोंके अनुसार अथवा कर्मकी आठ प्रकृतिके अनुसार उसके आठ भेद कर सकते है। नौ पदार्थोंके विचारसे जीव नौ तरहके और दस प्रकारके प्राणके अनुसार दस प्रकारके होते हैं, ऐसा भी कह सकते हैं।

जीवतत्त्वको भली भांति समझनेके लिये इन भागों पर भी विचार करना चाहिये।

एक प्रकारके जीव

सामान्य दृष्टिसे सभी जीव एक ही प्रकारके है ऐसा कहे तो अनुचित न होगा। इस सामान्यको 'उपयोग' कहते हैं। जीवमात्र उपयोगका अधिकारी है। उपयोगके दर्शन और ज्ञान ये दो भेद हैं। विशेष ज्ञानविरहित सत्तामात्रके बोधको 'दर्शन' कहते है। वस्तु-विषयक सविशेष बोधका नाम 'ज्ञान' है। ज्ञानके दो भेद है--प्रमाण और नय। समस्त वस्तु सम्बन्धी सम्यग् ज्ञानका नाम 'प्रमाण' और वस्तुके आंशिक ज्ञानका नाम 'नय' है। प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष नामक दो भेद हैं। प्रत्यक्ष प्रमाणकी अपेक्षा परोक्ष प्रमाण अस्पष्ट होता है। अवधि, मन.पर्याय और केवल यह तीन प्रकारका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन्द्रिय और मनकी सहायताके विना रूपी पदार्थोंका जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। इन्द्रियादिकी अपेक्षा विना,

दूसरोंके चित्तके सम्बन्धमें जो ज्ञान होता है वह मनःपर्याय ज्ञान कहलाता है। विश्वकी समस्त वस्तुओं और पर्यायोंके प्रत्यक्ष ज्ञानका नाम केवलज्ञान है।

मति और श्रुतके भेदसे परोक्ष प्रमाणके दो भेद हैं। जिस ज्ञानमें इन्द्रिय अथवा अनिन्द्रिय (मन) सहायक हो उसे मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञानमें इन्द्रिय ज्ञान, स्वसंवेदन, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, ऊह और अनुमानका समावेश होता है। दर्शन निराकार ज्ञान है। मतिज्ञान साकार ज्ञान है। मतिज्ञानके चार प्रकार—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—इन्हे मतिज्ञानके चार दर्जे कह सकते हैं। अवग्रह मतिज्ञानका नीचेसे नीचा दर्जा है। इसके द्वारा विषयके अवान्तर सामान्य (जाति) मात्रका बोध होता है। अवग्रहीत विषयके विशेष समूह संबंधी जानकारीकी स्पृहाका नाम ईहा है। विषयके विशेष ज्ञानको अवाय कहते हैं। विषयज्ञानको धारण किये रहनेको धारणा कहते हैं। इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होनेवाला ज्ञान इन्द्रियज्ञान है। इन्द्रिय-निरपेक्ष, सुखदुःखादिकी अन्तर-अनुभूतिको अनिन्द्रिय ज्ञान अथवा स्वसंवेदन कहते हैं। अनुभूत विषयका पुनः बोध होना स्मरण कहलाता है। सदृश अथवा विसदृग विषयोंसे संबन्ध रखनेवाला संकलनात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है। विशेषाकार विज्ञानमेंसे जो त्रिकाल विषयक ज्ञान होता है उसका नाम ऊह अथवा तर्क है। तर्कलब्ध विज्ञानसे 'यह पर्वत अग्निवाला है' इस प्रकारका जो ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं। श्रुतज्ञानका समावेश परोक्ष प्रमाणमें होता है। आप्त पुरुषकी वचनावलीको श्रुतज्ञान कहते हैं। विषय सम्बन्धी एकदेशीय ज्ञान नय

कहलाता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेदसे नय भी दो प्रकारका होता है। द्रव्यार्थिक नयका विषय 'द्रव्य,' और पर्यायार्थिक नयका विषय 'पर्याय' है। नैगम नय, संग्रहनय, और व्यवहारनय—ये द्रव्यार्थिक नयके अन्तर्गत है। नैगम नय उद्देश्यको बतलाता है। संग्रह नय वस्तुओंके सामान्य अंशका और व्यवहार नय विशेष अंशका ग्रहण करता है। ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये पर्यायार्थिक नयके चार भेद है। वस्तुके वर्तमानकालवर्ती पर्यायके साथ ऋजुसूत्रका सम्बन्ध है। शब्दनयके अनुसार एकार्थवाचक शब्दोंसे एक ही अर्थका बोध होता है। समभिरूढ नयके अनुसार एकार्थवाचक शब्दोंसे लिंग, धातु-प्रत्ययादि भेदसे पृथक् पृथक् अर्थ द्योतित होते है। एवंभूत नय प्रत्येक शब्दकी क्रिया बतलाता है; वस्तुके क्रियाहीन होने पर उस शब्द द्वारा उसकी पहिचान करनेका अधिकार नहीं रहता।

प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष, ये दो भेद हैं। प्रमाण और नय ज्ञानके भीतर समा जाते हैं। ज्ञान और दर्शन उपयोगके प्रकार-भेद हैं। इस उपयोगकी दृष्टिसे जीव एक प्रकारके हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

दो प्रकारके जीव

संसारी और मुक्तके भेदसे जीवके दो प्रकार है। कर्मफंदमें फंसा हुवा जीव संसारी, और कर्मशून्य जीव मुक्त कहलाता है। संसारी जीव कर्मयुक्त हैं, तथापि सभी संसारी जीव एक ही श्रेणीके हैं, ऐसा नहीं कह सकते। संसारी जीवोंमें भी कर्मभेद, पर्यायभेद है। इस कर्मभेदको समझानेके लिये जैनाचार्योंने चौदह गुणस्थानोंकी योजना

की है। जिन दर्जोंसे होता हुवा, अथवा जिन अवस्थाओंको पार करके भव्य जीव धीमे धीमे मुक्तिमार्गमें आगे बढ़ता है उन दर्जों अथवा अवस्थाओंका नाम गुणस्थान है। प्रत्येक संसारी जीव किसी न किसी एक गुणस्थानमें अवस्थित होता है। १४ गुणस्थानोंके नाम इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यादृष्टि, (२) सास्वादन, (३) मिश्र, (४) असंयत [अविरति], (५) देशसंयत [देशविरति], (६) प्रमत्त [सर्वविरति], (७) अप्रमत्त [संयत], (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्मकषाय, (११) उपशांतकषाय [उपशांतमोह], (१२) संक्षीण-कषाय [क्षीणमोह], (१३) सयोग केवली और (१४) अयोग केवली।

मिथ्यादर्शन नामक कर्मके उदयसे जीव मिथ्यातत्वमें श्रद्धा रखता है और सत्य तत्त्वकी जिज्ञासा नहीं रखता। यह मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थान है। मिथ्यादर्शन कर्मका उदय न हो, किन्तु अनन्तानुबन्धी कर्मके उदयसे जीवको सम्यग्दर्शन न हो (वह सम्यग्दर्शनसे पतित हो जाय) तो उसे सास्वादन नामक दूसरा गुणस्थान कहते हैं। तीसरे गुणस्थान मिश्रमें, सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्रमोह) नामक कर्मके उदयसे जीवका दर्शन कुछ अंशोंमें मलिन और कुछ अंशोंमें शुद्ध होता है। अप्रत्याख्यानावरण नामक कषायके उदयके कारण जीव सम्यक्त्व-संयुक्त होते हुवे भी अविरति रहे यह असंयत नामक चौथा गुणस्थान है। अप्रत्याख्यान-आवरण नामक कषायका उदय बन्द हो जाय और जीव कुछ अंशोंमें संयत और कुछ अंशोंमें असंयत रहे यह 'देशसंयत' नामक पांचवां गुणस्थान कहलाता है। प्रत्याख्यानावरण कषायका

उदय क्षीण हो जाने पर भी — जीव पूर्णतः संयत हो जाय तोभी — उसमें भी प्रमाद रह जाय यह 'प्रमत्तसंयत' नामक छठा गुणस्थान है। इसके पश्चात् संज्वलन नामक कषाय नष्ट होने पर (मन्द होने पर) पूर्णसंयत जीव प्रमादके चंगुलसे छुटकारा पा जावे तो वह 'अप्रमत्त' नामक सप्तम गुणस्थानको प्राप्त होता है। मोक्षमार्गका यात्री क्रमशः अपूर्व शुक्ल ध्यानको प्राप्त करके विशुद्धिको प्राप्त करे, यह 'अपूर्वकरण' गुणस्थान है। यह अपूर्व शुक्ल ध्यान खूब खूब बढ़ता हुआ जब मोहकर्म-समूहके स्थूल अंशोंको क्षीण कर देता है तब जीव अनिवृत्ति-करण नामक नवम गुणस्थान पर जा पहुंचता है। इस प्रकार कषायोंको हल्का करता हुवा जीव सूक्ष्मकषाय गुणस्थानको प्राप्त करता है। सर्व प्रकारके मोह उपशांत होने पर जीव जिस गुणस्थानको प्राप्त करता है उसका नाम उपशांतकषाय है। मोहसमूहके पूर्णतः क्षय होने पर जीव बारहवें गुणस्थानको प्राप्त होता है, जिसका नाम क्षीणकषाय है। इसके पश्चात् चार प्रकारके घाति कर्म नष्ट होने पर जीवको निर्मल केवलज्ञान प्राप्त होता है। यह सयोगकेवली नामक तेरहवां गुणस्थान है। सर्व प्रकारके कर्मोंका क्षय होनेसे पूर्वकी, अत्यल्प क्षण व्यापी जो अवस्था वह चौदहवां गुणस्थान है। उसे अयोगकेवली कहते है। यहां पहुंचकर कर्मसंबन्ध पूरा हो जाता है।

संसारी जीव उपरोक्त चतुर्दश गुणस्थानोंमेंसे किसी न किसी एक स्थानमें होता है।

चतुर्दश गुणस्थानोंसे भी पर जो अनन्त सुखमय, अनिर्वचनीय अवस्था है वही मुक्तावस्था है। समस्त कर्मोंके संसर्गसे अलग होकर

सिद्ध, लोकाकाशके शिखर पर, सिद्धशिला पर, विराजमान होते है। सिद्ध संसार-सागरको पार पाये होते हैं। वे मुक्त कहलाते हैं।

तीन प्रकारके जीव

संसारी, सिद्ध और नोसिद्ध—जीवन्मुक्त इन तीन प्रकारसे जीवके तीन भेद किये जा सकते हैं। कर्मसंयुक्त जीव संसारी जीव है। कर्म दो प्रकारके हैः घाती और अघाती। मुक्तिमार्गका यात्री क्रमश: अपने कर्म—बन्धनोंको शिथिल करता हुवा जिस पवित्र क्षणमें तेरहवें गुणस्थानमें पहुंच जाता है तव वह संसारत्यागी साधक चार प्रकारके घाती कर्मको तोड़ देता है। एक प्रकारसे वह जीवन्मुक्त हो जाता है। परन्तु अघाती कर्मका संयोग उस समय भी रहता है अत एव उस वक्त वह सयोगकेवली अथवा पूर्णत. मुक्त न होनेके कारण नोसिद्ध भी कहलाता है। जीवन्मुक्त एक दृष्टिसे मुक्त ही है, परन्तु पार्थिव शरीर अवशिष्ट रहनेके कारण यह तीसरा भेद किया गया है। घाति कर्मके विनाशसे जीवन्मुक्तको केवलज्ञान प्राप्त होता है, वह सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है; अथवा वह अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत ज्ञान और अनंत वीर्यका अधिकारी हो जाता है।

जीवन्मुक्त सर्वज्ञके दो भेद हैः सामान्य केवली और अर्हत्। सामान्य केवली केवल अपनी मुक्तिकी ही साधना करता है। अर्हत् संसारके समस्त जीवोंकी मुक्तिके लिये उपदेश देता है। अर्हत्को ही तीर्थंकर कहते हैं। संसार-सागरमें गोते खाते हुवे जीवोंके लिये उपदेशमय तीर्थका निर्माण तीर्थङ्कर ही करते है। वे साधु, साध्वी, श्रावक और

श्राविका इन चारों संघ-विभागोंको उपदेश देते है। तीर्थङ्कर जब माताके गर्भमे आते है, जन्म लेते हैं, दीक्षा लेते है, सर्वज्ञता प्राप्त करते है और निर्वाणको प्राप्त होते है तब इन्द्रादि देव महोत्सव पूर्वक उनकी पूजा (अर्हा) करते हैं इसी लिये उन्हें "अर्हत्" भी कहते हैं। इन महा-पुरुषोको देहका रत्तिभर भी ममत्व नहीं होता। तथापि उनका शरीर अति शुभ्र, सहस्र सूर्योंके समान समुज्ज्वल होता है। वह पूर्णतः निर्दोष होता है। भगवान तीर्थंकरोंको चार प्रकारके अतिशय भी होते हैं। अर्हत् अथवा तीर्थंकर प्रत्यक्ष ईश्वर स्वरूप होते है।

तदनन्तर जब सर्वज्ञ पुरुषके अघाती कर्म नष्ट हो जाते हैं तब वह कर्मबन्धनसे मुक्त होकर, संसाररूपी कारावाससे निकलकर, लोक-शिखर पर स्थित, चिरशांतिमय सिद्धशिला पर विराजमान होते हैं। यही जीवकी अन्तिम अवस्था है—परामुक्ति है। सिद्धके जीवोंको किसी प्रकारका कर्ममल नहीं होता। वे आत्माके विशुद्ध स्वभावमें ही रहते हैं। वे प्रथमकथित अव्याबाध आदि आठ प्रकारके गुणोंके अधिकारी हो जाते हैं।

चार प्रकारके जीव

गतिभेदसे जीव चार भेदोमें विभक्त हैं—देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यंच।

देवके चार भेद है—(१) भवनवासी, (२) व्यंतर, (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक।

भवनवासीके दस भेद हैं—(१) असुरकुमार, (२) नागकुमार,

(३) विद्युतकुमार, (४) सुवर्णकुमार, (५) अग्निकुमार, (६) वातकुमार, (७) स्तनितकुमार, (८) उदधिकुमार, (९) द्वीपकुमार और (१०) दिक्कुमार।

व्यंतरके आठ भेद है—(१) किन्नर, (२) किंपुरुष, (३) महोरग, (४) गंधर्व, (५) यक्ष, (६) राक्षस, (७) भूत और (८) पिशाच।

ज्योतिष्कके पांच प्रकार है—(१) सूर्य, (२) चन्द्र, (३) ग्रह, (४) नक्षत्र और (५) तारक।

वैमानिक दो प्रकारके है—(१) कल्पोपपन्न और (२) कल्पातीत।

घर्मा नामक नरकके तीन भाग है। पहिले भागका नाम 'खर भाग', दूसरेका 'पंक भाग' और तीसरेका 'अब्बहुल' है। घर्मा नरकके पहिले और दूसरे भागमें समस्त भवनवासी देवोंके भवन अर्थात् वास-स्थान है। विविध देशादिकोंमें वास करनेके कारण दूसरे प्रकारके देव व्यंतर कहलाते है। रत्नप्रभा नामक नरकके दूसरे भागमें राक्षस नामके व्यंतर रहते हैं। शेष सात प्रकारके व्यंतर इस नरकके प्रथम भाग—खरभाग—में रहते हैं। इसके अतिरिक्त व्यंतर बहुतसे पर्वत, गुफा, सागर, अरण्य, वृक्षकोटर और मार्ग आदिमें रहते है। भूमितलसे लेकर मध्य लोकके अन्तरवर्ती विशाल आकाशमें ज्योतिष्क रहते हैं। भूमि-भागसे ७९० योजनके भीतर एक भी ज्योतिष्क देव नहीं है। ७९० योजनसे आगे तारागण है। भूतलसे ८०० योजन दूर सूर्य-विमान है। सूर्यसे कोई ८० योजन ऊपर चन्द्र है। चन्द्रसे तीन योजन ऊपर नक्षत्र हैं। नक्षत्रोंसे तीन योजन ऊपर बुधग्रह; उससे तीन योजन ऊपर शुक्र;

उससे तीन योजन ऊपर बृहस्पति; उससे चार योजन आगे मंगल और मंगलसे चार योजन ऊपर शनिश्चर ग्रह है। इस प्रकार भूतलसे ७९० योजनकी ऊंचाई पर, ११० योजनके भीतर ज्योतिश्चक्र है। सूर्य-विमान तप्त सुवर्णके समान है। इसका आकार अर्धगोलाकार और व्यास ४८/६१ योजनसे भी कुछ अधिक है। सूर्यविमानकी परिधि व्यासके तीन गुनेसे कुछ अधिक है। १६ हजार सेवक सूर्यविमानको धारण किये है। इस विमानमें सूर्यदेव अपने परिवारके साथ रहते हैं।

वैमानिक देव ज्योतिष्क देवोंसे भी ऊपर है। वे ऊर्ध्व लोकमें रहते है। सुमेरु पर्वतके शिखरसे ऊर्ध्व लोकका आरंभ होता है। इसके १६ कल्प अथवा स्वर्ग किये गए हैं।[1] (१) सौधर्म कल्प उत्तर दिशामें और (२) ईशान कल्प दक्षिण दिशामें है। इन दो स्वर्गोंके ऊपर क्रमशः (३) सनतकुमार कल्प (४) माहेन्द्र कल्प है। उसके उपर (५) ब्रह्म कल्प और (६) ब्रह्मोत्तर कल्प है। तदुपरि (७) लांतव और (८) कापिष्ट है। उस पर (९) शुक्र कल्प और (१०) महा-शुक्र कल्प हैं। तत्पश्चात् (११) शतार व (१२) सहस्रार कल्प हैं। उसके

१. श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्मत तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ४ सूत्र ३ "दशाष्टपञ्चद्वादश विकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः" में १२ देवलोकोंका विधान है। तथापि यहां १६ देवलोक लिखे हैं। यह तथा इसके आगेका देवलोकोंका वर्णन तथा व्यन्तरोंका स्थाननिर्णय वगैरह दिगम्बर शास्त्रोंमें विशिष्ट रूपसे वर्णित है। भट्टाचार्यजीने यहां उसीको ही उद्धृत किया प्रतीत होता है।

(गुजराती अनुवादक श्री सुशील)

व्यन्तरोंका स्थाननिर्णय वगैरह भी दिगम्बर शास्त्रानुसार ही दिया मालूम होता है। (मु. श्री दर्शनविजयजी)

ऊपर (१३) आनत व (१४) प्राणत है। बादमें (१५) आरन कल्प और (१६) अच्युत कल्प हैं। इन १६ कल्पों पर १२ इंद्रोंका अधिकार है। सौधर्मेंद्र, ईशानेंद्र, सनतकुमारेन्द्र और माहेन्द्र क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्वर्गके अधिपति है। ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्प ब्रह्मेन्द्रके अधिकारमें हैं। लांतव इन्द्र सप्तम और अष्टम कल्पका स्वामी है। शुक्रेन्द्र शुक्र और महाशुक्र कल्पका संरक्षण करता है। शतार इन्द्रका अधिकार ग्यारहवें और बारहवे स्वर्ग पर है। आनतेन्द्र, प्राणतेन्द्र, आरणेन्द्र और अच्युतेन्द्र क्रमशः १३वे, १४वे, १५वें और १६वें कल्पके अधिस्वामी है। १६वें कल्प अथवा स्वर्ग तक जितने वैमानिक देव रहते हैं वे कल्पोपपन्न कहलाते है। १६ स्वर्गके ऊपर ग्रैवेयक नामक विमान है। उसके ऊपर अनुदिश विमान तथा उसके ऊपर अनुत्तर विमान हैं।

कल्पातीत विमानोंमें कल्पातीत नामक वैमानिक देव रहते हैं। १६ कल्प और कल्पातीत विमान ६३ विभागों (पटलों) में विभक्त है; जिनमेंसे सौधर्म और ईशान कल्पके कुल मिलकर ३१ पटल है।- यथा–(१) ऋतु, (२) चन्द्र, (३) विमल, (४) वल्गु, (५) वीर, (६) अरुण, (७) नन्दन, (८) नलिन, (९) रोहित, (१०) कांचन, (११) चंचत्, (१२) मारुत, (१३) ऋद्धीश, (१४) वैडूर्य, (१५) रुचक, (१६) रुचिर, (१७) अंक, (१८) स्फटिक, (१९) तपनीय, (२०) मेघ, (२१) हारिद्र, (२२) पद्म, (२३) लोहिताक्ष, (२४) वज्र, (२५) नंद्यावर्त, (२६) प्रभंकर, (२७) पिष्टाक, (२८) गज, (२९) मस्तक, (३०) चित्र और (३१) प्रभ। तृतीय और चतुर्थ स्वर्गमें ७ समूह

है: (३२) अंजन, (३३) वनमाल, (३४) नाग, (३५) गरुड, (३६) लांगल, (३७) बलभद्र और (३८) चक्र। पञ्चम और षष्ठ कल्पमें ४ भाग हैं: (३९) अरिष्ट, (४०) देवसमिति, (४१) ब्रह्म, (४२) ब्रह्मोत्तर। सातवे और आठवें स्वर्गके दो भाग हैं: (४३) ब्रह्महृदय और (४४) लांतव। नवम, दशम कल्पमें (४५) महाशुक्र नामक १ पटल हैं। एकादश और द्वादश कल्पमें भी एक ही भाग (४६) शतार है। १३वे, १४वे, १५वे और १६वे कल्पके कुल ६ भाग हैं: (४७) आनत, (४८) प्राणत, (४९) पुष्पक, (५०) सातक, (५१) आरण और (५२) अच्युत। ग्रैवेयक विमानके अधोभागके ३ विभाग हैं: (५३) सुदर्शन, (५४) अमोघ, (५५) सुप्रबुद्ध। ग्रैवेयक विमानके मध्य भागमें ३ पटल हैं: (५६) यशोधर, (५७) सुभद्र, (५८) विशाल। ग्रैवेयक विमानके ऊपरवाले भागमें ३ पटल हैं: (५९) सुमल, (६०) सौमन और (६१) प्रीतिकर। अनुदिश नामक विमानमें एक ही पटल (६२) आदित्य है और इस विमानके ऊपर अनुत्तर विमानमें (६३) सर्वार्थसिद्ध नामक एक पटल है।

उपरोक्त वर्णनसे मालूम होगा कि, १६ कल्पमें कुल ५२ पटल हैं। प्रत्येक पटलमें ३ प्रकारके विमान अथवा निवासस्थान हैं: (१) इन्द्रक विमान, (२) श्रेणीबद्ध विमान और (३) प्रकीर्णक विमान। मध्यमें इन्द्रक विमान और उसके आसपास श्रेणीबद्ध विमान रहता हैं। प्रत्येक श्रेणीबद्ध विमानमें ६३ विमान होते है। पर ज्यों ज्यो नीचेसे ऊपर जाते हैं त्यों त्यों एक श्रेणी विमान कम होता जाता है। इस प्रकार ६२वे पटलमें एक इन्द्रक विमान रहता है। उसकी चारो

ओर केवल ४ श्रेणी विमान होते है। जिस प्रकार इन्द्र विमानके चारों ओर श्रेणीवद्ध विमान होते हैं उसी प्रकार उसकी विदिशाओंमें भी प्रकीर्णक अथवा पुष्प प्रकीर्णक विमान होते हैं। ६३वे पटलमें प्रकीर्णक विमान नहीं हैं। वहां मध्य भागमें सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमान और उसके आसपास विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामक चार श्रेणीवद्ध विमान हैं।

देवोंके भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक ऐसे चार भेद हैं यह हम जान चुके हैं। ये चार भाग दस भागोंमें विभक्त हैं। (१) इंद्र, (२) सामानिक, (३) त्रायस्त्रिंश, (४) पारिषद, (५) आत्मरक्ष, (६) लोकपाल, (७) अनीक, (८) प्रकीर्णक, (९) किल्विषिक और (१०) आभियोग्य। भवनवासी और व्यंतर देवोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जैसे भेद नहीं है। उपरोक्त दस भेद ज्योतिष्क और कल्पोपपन्न वैमानिकोंमें ही होते है। कल्पातीत देवोंमें कोई खास भेद नहीं होता, क्यों कि वे सब इन्द्र हैं और इसी लिए कल्पातीत वैमानिक 'अहमिन्द्र' कहलाते हैं। देवोंमें जो राजा, बड़े होते है वे इन्द्र है। सामानिक देवोंके भोगोपभोग इन्द्रके समान ही होते है; केवल इतना अन्तर होता है कि इन्द्रके आधीन सेना होती है, आज्ञाकारी सेवक होते हैं और राज्यऐश्वर्य होता है। सामानिक देवोंके पास यह कुछ नहीं होता। इन्द्रके ३३ मंत्री अथवा पुरोहित होते है। वे त्रायस्त्रिंश नामसे पुकारे जाते हैं। इन्द्रसभाके सभासद पारिषद कहलाते हैं। इन्द्रके भी शरीररक्षक देव होते है। लोकपाल उसके राज्यकी रक्षा करते हैं। इन्द्रके सैनिक अनीकदेव कहलाते हैं। सेवक देवोंको आभियोग्य और नीची

श्रेणीके देवोंको किल्विषिक कहते है।

नीचे रहनेवाले समूहसे ऊपर रहनेवाला देवसमूह क्रमशः तेज, वर्ण (लेश्या), आयु, इन्द्रियज्ञान, अवधिज्ञान, सुख और प्रभावमें विशेष उन्नत होता है। ज्यों ज्यों उच्च देवलोकमे जाय त्यों त्यों उनका मान-कषाय, गति, देहप्रमाण और परिग्रह भी न्यून होते हुवे दिखलाई देते है। देवयोनिमें जन्म होना जीवके पुण्यके आश्रित है। भवन, व्यंतर और ज्योतिष्क देवोमें कृष्ण, नील, कापोत और पीत—ये चार वर्ण होते है। सौधर्म और ईशान कल्पमें केवल पीतवर्ण होता है। तीसरे और चौथे स्वर्गके देवोंका वर्ण कुछ पीत और पद्माभ होता है। पञ्चमसे अष्टम कल्प तकके देवोंका वर्ण पद्माभ; नवमसे द्वादश देवलोक तकके देवोंका वर्ण पद्माभ और शुक्लाभ एवं इससे ऊपरके देवलोकवाले देवोंका वर्ण शुक्ल होता है।

देव कोई मुक्त जीव नहीं होते। सिर्फ इतना ही कि, शुभ कर्मके योगसे वे उत्तम प्रकारका सुख भोग सकते हैं। जन्म और मृत्युका चक्कर तो वहां भी है। किसी किसी बातमें तो वे भूलोकवासी मनुष्योंके समान ही होते हैं। इन्हे भी उत्तम वस्तुओंसे प्रेम और नापसन्द वस्तु-ओंसे अप्रीति होती है। मनुष्यके समान देवोमें भी विषयवासना होती है। कितनी ही बातोंमें वे मनुष्योंसे भिन्न है। भवनवासी, व्यंतर, ज्यो-तिष्क और सौधर्म तथा ईशान कल्पके देवोंमें मनुष्य तथा तिर्यंचके समान शरीरसंयोग पूर्वक रमणक्रिया होती है। तीसरे और चौथे स्वर्गके देव रमणीका केवल आलिंगन करते है। पांचवेसे आठवे स्वर्ग तकके देव, देवियोंके रूपदर्शनमें ही विषय सुखका अनुभव करते है। नवम,

दशम, एकादश और द्वादश स्वर्गके देव देवियोंके शब्द-श्रवणमें ही तृप्तिलाभ करते है। १३वे से १६वें देवलोक तकके देव केवल देवांगनाओंके विचारमात्रसे ही सन्तोषलाभ करते है। १६वे के आगे, ऊपरके देवलोकोंमें कामलालसा नहीं है। मनुष्यादि जीवोंका शरीर जिस उपादानसे निर्मित है वे उपादान इस देवशरीरमें नहीं होते। देवोंमें वीर्यस्खलन और देवियोंमें गर्भधारण क्रिया नहीं होती। देव मातृकुक्षिसे उत्पन्न नहीं होते। इनका मैथुन केवल एक प्रकारका मानसिक सुख-सम्भोगमात्र होता है।

नरकवासी जीव नारकी कहलाते हैं। नरक अधोलोकमें है और एकके ऊपर दूसरा स्थित होनेसे एक दूसरेके आश्रित रहते है। घनांबु (घनोदधि), पवन और आकाश ये तीन प्रकारके द्रव्य प्रत्येक नरकमें होते है। घनांबु आदि प्रत्येक पदार्थ २० हजार योजन तक विस्तृत होते है। नरक सात है: (१) घर्मा, (२) वंशा, (३) मेघा (सेला), (४) अंजना, (५) अरिष्टा, (६) मघवी (मघा) और (७) माघवी (माघवती)। वर्ण तथा स्वरूपभेदसे सातों नरक निम्नलिखित नामोंसे पुकारे जाते हैं—(१) रत्नप्रभा, (२) शर्कराप्रभा, (३) वालुकाप्रभा, (४) पंक-प्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तमःप्रभा, (७) तमस्तमःप्रभा अथवा महातमःप्रभा।

प्रथम नरकमें ३० लाख, दूसरेमें २५ लाख, तीसरेमें १५ लाख, चौथेमें १० लाख, पांचवेमें ३ लाख, छठेमें ५ कम एक लाख और सातवेमें ५ नरकावास है कुल मिलकर ८४ लाख जीवोत्पत्तिस्थान है। नारकीके जीवोंका वर्ण अत्यन्त खराब होता है। उनमें विविध

रूप धारण करनेकी शक्ति होती है। परन्तु इससे उन्हें अधिक यातना भोगनी पडती है। इनके दुःख अपार होते हैं। और उन्हे वे दुःख दीर्घ काल तक भोगने पड़ते है। असुरोंके भडकानेसे तथा स्वयमेव भी नारकी जीव परस्पर लड़ते है और इस प्रकार असह्य दुःख उठाते है।

मध्यलोकमें मनुष्य रहते है। इस मध्यलोकमें भी असंख्य द्वीप और समुद्र है। इन सब द्वीपोंमें जम्बूद्वीप मुख्य है। इसका व्यास एक लाख योजन है। जम्बूद्वीप सूर्यमंडलके समान ही गोलाकार है। इसके केन्द्रस्थान पर 'मन्दर-मेरु' नामक पर्वत है। इसके आसपास महासागर किल्लोल करता है। महासागर भी अन्य महाद्वीपोंसे घिरा हुवा है।

जम्बूद्वीपसे मिले हुवे महासागरका नाम लवणोद है। इस समुद्रको जो द्वीप घेरे हुवे है उसका नाम धातकीखंड है। धातकीखंडके चारों ओर कालोद समुद्र है। उसके आगे पुष्करद्वीप है। सबके अन्तमें स्वयंभूरमण नामक महासमुद्र है। बीचमें बहुतसे महाद्वीप तथा महासमुद्र है।

जम्बूद्वीपमें सात क्षेत्र है: (१) भरत, (२) हैमवत, (३) हरिवर्ष, (४) विदेह, (५) रम्यक्, (६) हैरण्यवत, (७) ऐरावत। ये क्षेत्र छः वर्षधर पर्वत अथवा कुलाचलों द्वारा एक दूसरेसे पृथक् हो जाते हैं। इन पर्वतोंके नाम इस प्रकार हैं: (१) हिमवान, (२) महाहिमवान, (३) निषध, (४) नील, (५) रुक्मी और (६) शिखरी। इन पर्वतोंकी पूर्व तथा पश्चिम दिशामें समुद्र है।

हिमवान सुवर्णमय है। महाहिमवान रजतमय है। निषधका रंग

ऐसा है जैसा कि सुवर्णके साथ ताम्र मिलनेसे होता है। चतुर्थ पर्वत नीलगिरि वैडूर्यमय है। पांचवां पर्वत रौप्यनिर्मित और छठा स्वर्णनिर्मित है। इन छ पर्वतोंके शिखर पर क्रमश: पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केशरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामक सरोवर हैं। पर्वतोंके समान ये सरोवर भी पूर्व-पश्चिम दिशामें फैले हुवे है। प्रथम सरोवर एक हजार योजन लम्बा और ५०० योजन चौड़ा है। द्वितीय सरोवर पहिलेसे दोगुना और तीसरा दूसरेसे दोगुना है। चतुर्थ, पंचम और षष्ठ सरोवर क्रमशः तृतीय, द्वितीय और प्रथमके समान है। इनकी गहराई कोई दस योजन होती है।

प्रथम सरोवरमें एक योजन विस्तृत एक कमल है। इसकी कर्णिका दो कोसकी और पासवाले दो पत्ते एक एक कोसके है। दूसरे कमलका परिमाण दो योजन है। तीसरे सरोवरके कमलका परिमाण चार योजन है। और चौथे, पांचवें तथा छठे सरोवरके कमलका परिमाण क्रमशः तीसरे, दूसरे और पहिले सरवरोके कमलके समान है। इन छ. कमलों पर यथाक्रम (१) श्री, (२) ह्री, (३) धृति, (४) कीर्ति, (५) बुद्धि और (६) लक्ष्मी नामवाली छः देवियां विराजमान है। इनमेंसे प्रत्येकका आयुष्य एक पल्योपम है। ये देवियां अपने अपने स्थानोंकी स्वामिनी होती हैं। इनके भी सभासद तथा सामानिक देव होते हैं। मुख्य कमल पर देवी बैठती है और उसके आसपासवाले कमलों पर देवसमूह बैठता है।

भरत आदि सात क्षेत्रोंमें क्रमश: निम्नलिखित नदियां बहती है–(१) गंगा तथा सिन्धु, (२) रोहिता तथा रोहितास्या, (३) हरिता

तथा हरिकांता, (४) शीता तथा शीतोदा, (५) नारी तथा नरकांता, (६) सुवर्णकुला तथा रूप्यकुला और (७) रक्ता तथा रक्तोदा। कुल मिलकर १४ नदियां है।

प्रत्येक क्षेत्रके पूर्व और पश्चिममें समुद्र है। ऊपर प्रत्येक क्षेत्रमें जिन दो-दो नदियोंका नामोल्लेख किया गया है, उनमेंसे पहिली पूर्वी समुद्रमें और दूसरी नदी पश्चिमी समुद्रमें जाकर मिलती है। गंगा और सिंधुमेंसे प्रत्येककी उपनदियोकी संख्या लगभग १४ हजार है। दूसरे, तीसरे और चथे क्षेत्रकी महानदियोंमेंसे प्रत्येककी उपनदियोंकी संख्या उपरोक्त उपनादयोंसे दोगुनी है। पांचवे, छठे और सातवें क्षेत्रकी महानादयोंमेंसे प्रत्येककी उपनदियां यथाक्रम (उत्तरोत्तर) आधी होती जाती है।

जम्बूद्वीपका विस्तार एक लाख योजन है। इसके अन्तर्गत भरत-क्षेत्रका दक्षिणोत्तर विस्तार ५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन है। भरतक्षेत्रसे लेकर विदेहक्षेत्र तक जितने क्षेत्र तथा पर्वत है उस प्रत्येकका विस्तार उत्तरोत्तर पूर्वके क्षेत्र व पर्वतसे द्विगुण है। विदेहके आगे जो क्षेत्र तथा पर्वत है उनका विस्तार उत्तरोत्तर आधा है। भरतक्षेत्रमें पूर्व-पश्चिमकी ओर समुद्र पर्यंत विस्तृत एक विजयार्ध (वैताढ्य) नामक पर्वत है।

भरतक्षेत्रके छ. खंड है, जिनमेंसे तीन विजयार्धके उत्तरमें है। इन छ' खण्डो पर विजय पताका फहरानेवाला महीपाल अपनेको चक्रवर्ती कह सकता है। उत्तर दिशाके तीन खण्डों पर जब तक विजय प्राप्त न करे तब तक नृपति अर्धविजयी माना जाता है। इसी

लिये भरतक्षेत्रके मध्यमें स्थित पर्वतका नाम विजयार्ध रक्खा गया है। इसे रजताद्रि भी कहते है। गंगा और सिन्धु नदीका पानी, विजयार्ध पर्वतके उत्तर भागमें बहता हुवा, इसी पर्वतके पत्थरोंको भेदन करके दक्षिणसमुद्रमें मिलता है। इस पर्वतके उत्तर और दक्षिणमें भी तीन-तीन खण्ड है। विजयार्धके उत्तरवर्ती तीन खंड और दक्षिणके दोनों ओरके दो खण्ड म्लेच्छ खण्ड हैं। और मध्यमें आर्यावर्त है। भरतक्षेत्रके पश्चिम, दक्षिण और पूर्वमें समुद्र तथा उत्तरमें कूलाचल है। जम्बूद्वीपके सात क्षेत्रके इस प्रकार खण्ड समझ लेना।

दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवे क्षेत्रमें एक एक गोलाकार पर्वत है। हैमवत क्षेत्रके गोलाकार पर्वतका नाम वृत्तवेदाढच है। हिमवान पर्वत पर स्थित पद्मसरोवरसे दो नदियां निकली है जो भरतक्षेत्रमें आती है। एक दूसरी रोहितास्या नदी हैमवतक्षेत्रके वृत्तवेदाढच नामक पर्वतके अर्ध भागकी प्रदक्षिणा करती हुई पश्चिम समुद्रमें मिलती है। हैमवत क्षेत्रके उत्तरमें महाहिमवान पर्वत है। इसमेंसे भी एक दूसरी नदा निकलती है। यह हैमवतक्षेत्रके वृत्तवेदाढच पर्वतके दूसरे आधे भागकी प्रदक्षिणा देती हुई पूर्व समुद्रमें जा मिलती है। तीसरे क्षेत्रमें भी नदी और गोलाकार पर्वतकी यही स्थिति है। दूसरा और तीसरा क्षेत्र जघन्य तथा मध्यम भोगभूमि समझा जाता है।

चौथे क्षेत्रका नाम विदेह और उसके गोलाकार पर्वतका नाम सुमेरु है। इस सुमेरु पर्वतके उत्तर-दक्षिण भागमें उत्कृष्ट भोगभूमि है। पूर्व और पश्चिमके भागमें ३२ कर्मभूमियां हैं। विदेहक्षेत्रमें सीता और सीतोदा नामक दो नदियां हैं, जो पर्वतकी प्रदक्षिणा करती हुई

क्रमशः पूर्व तथा पश्चिमके समुद्रमें समा जाती है। ३२ कर्मभूमियों-
मेंसे हरेकमें विजयार्ध (वैताढ्य) पर्वत और दो दो उपनदियां होती है।

पञ्चम और षष्ठ क्षेत्रमें दो दो महानदियां और एक एक पर्वत है।
ये दो क्षेत्र मध्यम और जघन्य भोगभूमि माने जाते है। कर्मभूमि
और भोगभूमिका वर्णन अब आगे करेंगे।

भरतक्षेत्र और ऐरावतक्षेत्र ये दो ऐसे है कि जहां कालचक्रके
अनुसार जीवकी आयु, शरीर और शक्ति आदिमें परिवर्तन होता रहता
है। जिस समय जीवके शरीर आदि उत्कृष्ट स्थितिका उपभोग करते
हों उस कालका नाम उत्सर्पिणी काल है, और जिस समय क्षीण
स्थितिको भोगते हों उस कालका नाम अवसर्पिणी काल है। इन दो
प्रकारके कालोंके ६-६ आरे है—(१) सुखमा-सुखमा, (२) सुखमा,
(३) सुखमा-दुःखमा, (४) दुःखमा-सुखमा, (५) दुःखमा, (६)
दुःखमा-दुःखमा। इस समय अवसर्पिणी कालका पांचवां आरा
'दुःखमा' चल रहा है। छठा आरा अत्यन्त दुःखपूर्ण है जो आगे
आनेवाला है। उसके बाद पुनः उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ होगा। कालके
प्रभावसे जीवके आयु, शरीर और शक्ति आदिमें न्यूनाधिकता होती है।
इसी प्रकार भरत और ऐरावतकी भूमिमें भी कुछ परिवर्तन होते है।

जम्बूद्वीपके चारों ओर लवणोद महासमुद्र है। इस समुद्रके एक
किनारेसे उसके सामने वाले दूसरे किनारे तकका फासला (पाट) पांच
लाख योजन है। लवणसमुद्रको धातकी खंड चारों ओरसे घेरे हुवे है।
वह भी द्वीप है। इसका विस्तार लवणोदसे दोगुना और जंबूद्वीपसे ४
गुना है। समुद्र सहित इसका व्यास १३ लाख योजन है। जंबूद्वीप

थालीके समान गोल होनेके कारण इसके भीतरके पर्वत एकसिरेसे दूसरे सिरे तक फैले हुवे है। धातकी खंड कंकण अथवा चक्रके समान है। यह खंड़ पहियेके आरोंके समान पर्वतोंसे विभक्त है। पर्वतोंके मध्यका प्रदेश एक–एक क्षेत्र माना जाता है। इस खंडमें १२ पर्वत, दों मेरु और १४ क्षेत्र हैं। इसमें ६८ कर्मभूमि और १२ भोगभूमि है।

घातकी खंडके आगे कालोद समुद्र और उसके वाद पुष्कर द्वीप आता है। कालोद समुद्रका विस्तार आठ लाख योजन है। और पुष्कर द्वीपका विस्तार १६ लाख योजन है। पुष्कर द्वीपके आधे भागमें अर्थात् आठ लाख योजनके भीतर घातकी खंडके समान ही क्षेत्र और पर्वत है। शेष आठ लाख योजनमें क्षेत्र विभाग आदि नहीं है। पुष्कर द्वीपके ठीक बीचमें मानुषोत्तर नामक एक पर्वत है। इस पर्वतके वाहर मनुष्यकी गति या आवास नहीं है। वहां विद्याधर और ऋद्धिप्राप्त ऋषियोंकी भी पहुंच नहीं है।[1] इसी लिये इसका नाम मानुषोत्तर रक्खा गया है। मानुषोत्तर पर्वतके वाहर केवल भोगभूमि है। वहां पशु ही रहते हैं।

जम्बूद्वीप, घातकी खंड और आधे पुष्कर द्वीप अर्थात् अढाई द्वीपों और लवणोद तथा कालोद समुद्रमें मनुष्य जाति आ जा सकती है। मनुष्य जातिके इस आवासस्थानमें ९६ अन्तद्वीप है।[2] इन अन्तर्द्वीपोंमें

१. वहां विद्याचारण और जघाचारण जा सकते हैं। (भगवतीसूत्र)

२. श्वेताम्बर साहित्यमें ५६ अन्तर्द्वीप लिखे । और यहां भी केवल अकर्मभूमि-कुभोगभूमि होनेका विधान है; यहाके मनुष्य मनुष्यके आकारमें ही हैं।

रहनेवाले मनुष्य भोगभूमिवासी कहलाते है। इनमेंसे कुछ वानराकार है तो कुछ अश्वाकार है। इन्हें म्लेच्छ कहा गया है।

मानव जातिके दो भाग है एक आर्य और दूसरा म्लेच्छ। आर्यखंडमें आर्योंका निवास है। उनमें भी शक भील ऐसी जातियां है जो आर्य नहीं कहलातीं। म्लेच्छ अधिकांशमें म्लेच्छ खंड और अन्त-र्द्वीपोंमें निवास करते है।

आर्योंके भी कई भेद है। जो पवित्र तीर्थक्षेत्रोंमें रहते है वे क्षेत्रार्य; इक्ष्वाकु जैसे उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेवाले जात्यार्य; वाणिज्यादिसे आजीविका चलानेवाले सावद्यकर्मार्य, जो गृहस्थी हैं, संयमासंयमधारी श्रावक है वे अल्पसावद्यकर्मार्य, पूर्ण संयमी साधु असावद्यकर्मार्य; पवित्र चारित्रका पालन करके मोक्ष मार्गकी आराधना करनेवाले चारित्रार्य; जो सम्यग्दर्शनके अधिकारी हैं वे दर्शनार्य कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त बुद्धि, क्रिया, तप, बल, औषध, रस, क्षेत्र और विक्रिया इन आठ विषयों संबन्धी ऋद्धिवाले भी आर्य हैं।

मध्यलोकमें बहुतसी कर्मभूमियां तथा भोगभूमियां हैं। जहां राज्यत्व, वाणिज्य, कृषिकर्म, अध्ययन, अध्यापन और सेवा आदि के द्वारा आजीविका प्राप्त की जाती है वह कर्मभूमि कहलाती है। जहां संसार–त्याग सम्भव है वह भी कर्मभूमि है। दूसरे शब्दोंमें, जहां पुण्य-पापके उदयके कारण जीव कर्मलिप्त होता हो वह कर्मभूमि है। भोग-भूममें यह बन्धन नहीं है। सब मिलाकर १७० कर्मभूमि है। उनमेंसे जंबूद्वीपमें भरत और ऐरावत ये दो; बत्तीस विदेहक्षेत्रमें; ६८ धातकी

खंडमें और ६८ आधे पुष्कर द्वीपमें है। विदेह क्षेत्रकी ३२ कर्मभूमियोंमेंसे प्रत्येक कर्मभूमि, भरत तथा ऐरावत क्षेत्रके समान विजयार्द्ध (वैताढय) पर्वत और दो दो नदियोंसे ६ खण्डोंमे विभक्त है। विदेहक्षेत्रके चक्रवर्ती इन छः खण्डोंके विजेता होते हैं।

जिस स्थानमें वाणिज्य अथवा कृषिके द्वारा आजीविका प्राप्त नहीं की जाती, जहां राजा और प्रजामें कोई भेद नहीं है, और जहां मोक्षमार्ग संभव नहीं है वह भोगभूमि है। भरत तथा ऐरावत क्षेत्र, अवसर्पिणी कालके प्रथम तीन आरों तक भोगभूमि ही थे। ये दोनो क्षेत्र अवसर्पिणी कालके चौथे आरेके आरम्भसे कर्मभूमिमें परिणमित हो गए हैं। एवं अवसर्पिणी काल पूर्ण होनेके पश्चात् उत्सर्पिणी कालके प्रथम तीन आरों तक ये दोनों कर्मभूमि ही रहेंगे।

विदेहक्षेत्रमें मेरु पर्वतके पूर्व तथा पश्चिममें ३२ कर्मभूमि है। इसके अतिरिक्त इस पर्वतकी उत्तर-दक्षिण दिशामें भी दो उत्कृष्ट भोगभूमि हैं। वे क्रमशः देवकुरु और उत्तरकुरु कहलाती है। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र जघन्य भोगभूमि तथा हरिवर्ष रम्यक क्षेत्र मध्यम भोगभूमि हैं। जघन्य भोगभूमिमें जीवका आयुःपरिमाण एक पल्य, मध्यममें २ पल्य और उत्तम भोगभूमिमें ३ पल्य होता है। जम्बूद्वीपकी छः भोगभूमियोंके अतिरिक्त धातकी खंडमें १२ और पुष्कर द्वीपार्द्धमें १२ भोगभूमि है। इस प्रकार अढाई द्वीपोंमें सब मिलकार ३० भोगभूमियां हैं। इन अढाई द्वीपोंके अतिरिक्त अन्यत्र सब जगह भोगभूमि है, परन्तु फर्क इतना कि वहां कोई मनुष्य नहीं है। इसे कुभोगभूमि भी कह सकते हैं। अन्तर्द्वीप और म्लेच्छस्थान कुभोगभूमि ही हैं।

मनुष्यके अतिरिक्त जितने प्राणी आंखसे दिखलाई देते है वे सब तिर्यंच कहलाते है। तिर्यंच मध्यलोकमें रहेते है। इनमें भी एकेन्द्रियादि बहुतसे भेद है। मध्यलोकके सब भागोंमें एकेन्द्रिय होते हैं।'

भगवान् पार्श्वनाथ

(१)

मन्त्री विश्वभूतिको एक दिन शिरके भ्रमरसदृश काले केशसमूहमें एक सफेद बाल निकलता हुवा दिखलाई दिया। फिर क्या था, विचारधारा तरंगित हो उठी; सोचने लगा, धीमे धीमे इसी प्रकार सभी बाल सफेद हो जायंगे और एक दिन यौवन-सरिता भी सूख जायगी। उगते हुवे एक सफेद बालको देखकर मन्त्रीने संसारकी अस्थिरता, असारताका अनुमान किया, और पोतनपुरके इस मन्त्रीने एक स्त्री, दो पुत्र एवं महान् ऐश्वर्यका त्याग करके मुक्तिका रास्ता लिया।

मन्त्रीके दो पुत्र थे। बड़े पुत्रका नाम कमठ और छोटेका मरुभूति था। कमठ बड़ा होने पर भी महामूर्ख था, अतएव मन्त्रीत्वका भार कमठको न देकर मरुभूतिको दिया गया। मरुभूतिके विनय, शिष्टाचार और चारित्रको देखकर महाराज अरविन्द उसे बहुत मानने लगे। वह महाराजाका विश्वासपात्र हो गया और उनकी अनुपस्थितिमें राजतन्त्रकी बागडोर उसीके हाथमें रहने लगी।

एक दिन अचानक वज्रवीर्य नामक एक प्रतिस्पर्द्धी महाराजाने

युद्धदुन्दुभि बजा दी। महाराजा अरविन्दने राज्यतन्त्र मरुभूतिको सौंपा और स्वयं सेनाके साथ मैदानकी ओर चल दिया। मरुभूतिकी विद्यमानतामें राजाको राज्यकी कुछ भी चिन्ता न थी।

राजा अरविन्द युद्धमें गये और राज्यमें कमठके अत्याचार पराकाष्ठाको पहुंचने लगे। उसने सोचा, राज्यतन्त्र मेरे सहोदरके हाथमें है, फिर मुझे पूछनेवाला कौन है?

कमठ विवाहित था। उसकी स्त्रीका नाम वरुणा था। तथापि वह अपने छोटे भाईकी स्त्रीके रूप-लावण्यको देखकर कामान्ध हो गया।

एक वार कमठने देखा—वसुंधरा उद्यानमें निःशंका हो कर घूम रही है। न जाने वह कबतक टिकटिकी लगाए उसकी ओर देखता रहा, पर देखनेमात्रसे उसे तृप्ति न हुई। वसुंधरा नजरोंसे ओझल हुई तब कमठने एक ठंडी सांस छोड़ी।

कमठके मित्र कलहंसने उसे बहुतेरा समझाया: "भाई, परस्त्री तो माताके समान होती है, अपने छोटे भाईकी स्त्री तो पुत्री ही मानी जाती है।" पर कमठकी कामतृषा शान्त न हुई।

"प्राण जाय तो चिन्ता नहीं, एक वार वसुन्धराको स्वपत्नी न बना सका तो यह जीवन ही व्यर्थ है।" कमठका शरीर कांप रहा था, और उसकी आंखोंसे अस्वाभाविक तेज टपकता था।

कलहंसने जाकर वसुन्धराको खबर सुनाई: "यहीं पासवाले लतामंडपमें तुम्हारा जेठ मूर्च्छित पड़ा है, तुम्हें उसकी सुश्रुषाके लिये जाना चाहिये।" कलहंसके कपटवाक्योंको सुनते ही वसुन्धरा घबराकर कमठके पास दौड़ गई। हरिणी व्याघ्रके पंजेमें फंस जांय ऐसी हालत

वहां वसुंधराकी हुई। कमठके पापका घड़ा भी परिपूर्ण हो गया।

महाराजा अरविंद शत्रु पर विजय प्राप्त करके जब पोतनपुर वापस आए तो बहुतसे मनुष्योंसे इस अत्याचारकी कहानी सुनी। उनका रोम रोम क्रोधसे जलने लगा। उन्होंने मन्त्री मरुभूतिसे पूछा. "तुम स्वयं भले कुछ न कहो, परन्तु मै कमठको कड़ेसे कड़ा दंड देना चाहता हूं। अपने राज्यमें मै यह अन्याय सहन नहीं कर सकता। तुम्हीं बतलाओ, इसकी क्या सज़ा दी जाय?"

मरुभूति भी आख़िर मनुष्य था। कमठके अत्याचारसे उसके हृदयमें ज्वाला धधक रही थी। तथापि वह उदारता और क्षमाके शीतल जलसे इस ज्वालाको शान्त करनेके लिये अहर्निश अपने चित्तके साथ युद्ध खेलता था। उसने कहा: "इस समय तो उसे एक बार क्षमा कर दीजिये।"

मरुभूतिके स्वभावकी मधुरताको देखकर महाराजा विस्मित हो गये। वे कहने लगे: "बस, अब तो मैं स्वयं ही सब कुछ देख लूंगा, तुम ज़बान नहीं चला सकते। अब तुम खुशीसे अपने महलमें जा सकते हो।"

महाराजाने कमठका मुख काला करवाया और उसे गधे पर बैठाकर सारे शहरमें घुमानेके पश्चात् फिर कभी स्वदेश न लौटनेकी आज्ञा फ़रमा दी।

अपमानित कमठ फिर तो तपस्वी बन गया। धर्महीन, वैराग्य-विहीन कमठ भूताचल नामक पर्वत पर तपस्वियोंके आश्रममें जाकर कठोर तपश्चर्या करने लगा।

अपने ज्येष्ठ सहोदरकी तपश्चर्याका सब हाल सुनकर मरुभूति सोचने लगा : "सचमुच मेरे बड़े भैयाका हृदय अब पश्चात्ताप-वारिसे शुद्ध हो गया है।" राजाने बहुत समझाया कि चाहे जितना धोने पर भी कोयला सफेद नहीं होता। दुराचारी मनुष्य शायद थोड़े समयके लिये सदाचारी हो जाय, तो फिर वह और भी भयंकर हो जाता है। इस लिये अब तुम्हे उसके साथ किसी प्रकारका संबंध न रखना यही उचित है। पर मरुभूतिके हृदयमें बन्धुभावका रुधिर उमड रहा था। भ्रातृवात्सल्यने उसके दिलके ऊपर पूर्णतः अधिकार जमा रक्खा था।

वह न रह सका, और जाकर कमठके चरणोंपर गिर पड़ा, बोला : "भाई, क्षमा करो, महाराजाने मेरी बात विना सुने ही आपको निर्वासित कर दिया। आपकी यह कठोर तपश्चर्या देखकर मेरा हृदय फटा जाता है। अब आप घर चलिये।"

उस समय कमठ दोनों हाथोंमें दो भारी पत्थर लिये खड़ा हुवा तपश्चर्या करता था। छोटे भाईके विनयी मधुर शब्दोंने उसके अन्तःकरणमें बैठे हुवे क्रोधरूपी सर्पको छेड़ दिया। उसने आगा सोचा न पीछा; हाथका पत्थर भाईके शिर पर दे मारा। मरुभूति वहींका वहीं मर गया।

कमठके इस निर्दय व्यवहारको देखकर आसपासके तपस्वियोंमें खलबली मच गई। उन्होंने कमठको आश्रमसे निकाल बाहर किया।

कमठ एक भीलबस्तीमें जाकर रहने और चोरी लूटमार आदि उपद्रव करने लगा।

एक अवधिज्ञानी मुनिराजने महाराजा अरविंदको मरुभूतिके

देहावसानकी खबर दी। इस समाचारसे महाराजा अत्यन्त दुःखी हुवे और मन ही मन कहने लगे : "मैंने स्वयं उसे जानेसे रोका था, पर वह न माना; आखिर दुष्टने अपने सगे भाईको भी निर्दयतापूर्वक मार ही डाला।

(२)

संसारमें अमर कौन है? कमठ और उसकी पत्नी वरुणा भी परलोक सिधार चुके है।

आकाशके एक कोनेमें धीरे धीरे घटा घिर रही है। वह घटा नहीं है, मानों कोई कुशल चित्रकार निश्चिंत होकर आकाशपट पर नये नये चित्र बना रहा है। घडीमें एक चित्र बनाता है, तो घडीके बाद उसे मिटा देता है; घडीभरमें एक नया ही आकार नजर आता है।

महाराजा अरविन्द इस मेघलीलाको तल्लीन होकर देख रहे है। मेघ-चित्रकारने एक जिन-मन्दिर बनाना शुरू किया। महाराजाको वह चित्र इतना पसन्द आया कि वे रंग और ब्रुश लेकर उसकी नकल उतारने बैठ गये। वे बादलोंके आकारका ही एक दूसरा जिनमन्दिर निर्माण करना चाहते थे।

देखते ही देखते बादल फट गए और मन्दिरका सारा स्वरूप विलीन-विलुप्त हो गया।

महाराजाके अन्तःकरणने पुकारा : "क्या सचमुच संसार इतना अस्थिर है? यह राज्य, यह संपदा, यह जीवन, यह सब [illegible] क्या इस बादलके मन्दिरके समान ही क्षणिक है? इन [illegible] विलीन होनेमें क्या देर लगती है? मैं क्यों इन अस्थिर संसारके [illegible]

जीवन बिता रहा हूं ? "

महाराजा अरविंदने अपने पुत्रको सिंहासनारूढ करके त्यागपथ का रास्ता लिया। कई वर्ष इसी प्रकार बीत गये।

सम्राट् अरविंद आज अरण्यवासी है, निःस्पृह मुनिके समस्त आचार पालते है।

एक बार सम्मेतशिखरकी और विहार करते हुवे मार्गमें सल्लकी नामक एक बडा वन पड़ा। अरविन्द मुनिके साथ और भी वहुतसे मुनि थे। सबने सल्लकी अरण्यमें डेरा डाल दिया।

मुनिसंघ वैठा हुआ था, इतने ही मे एक पागल हाथी मदोन्मत्त होकर वृक्षोंको समूल उखाड कर फेकता हुवा, अपनी ओर आता उन्होंने देखा। महात्मा अरविन्द ध्यानस्थ थे। वे आंख खोले, इसके पूर्व ही हाथीने उन्हें सूंढसे पकड लिया। महात्मा तनिक भी व्याकुल न हुवे। वे तो पर्वतके अपने समान आसन पर वैठे रहे। हाथीका गर्व जाता रहा। उसने मुनि अरविंदकी छाती पर श्रीवत्सका चिह्न देखा। उसे देखते ही हाथीको अपने पूर्व भवकी स्मृति जागृत हो गई। एक छोटेसे चिह्नमें उसने समस्त भवकी लम्बी अविच्छिन्न कथा लिखी देखी। सूंढ झुकाकर उसने महाराजाको प्रणाम किया।

"क्यों इस प्रकारकी व्यर्थ हिंसा करता है ?" मुनि अरविन्दने कोमल वाणीसे, हाथीको सम्बोधित करके कहा. "हिंसाके समान अन्य कोई भी पाप नहीं है। अकाल मृत्युके परिणाम स्वरूप तो तुझे हाथीका —जानवरका भव प्राप्त हुवा है। अब भी क्या पापसे नहीं डरता ? धर्म-पंथमें विचर ! व्रतादिका पालन कर ! किसी दिन सद्गति मिल ही जायगी।"

अकालमें अपघात—मृत्युका शिकार होनेवाले—मन्त्री मरुभूतिका जीव इस अरण्यमें हाथीके रूपमें अवतरित हुवा था। कमठकी पत्नी वरुणा इसकी हथिनी थी। हाथीका नाम वज्रघोष था। वज्रघोष सल्लकी वनमें घूमता था। हथिनी रूपमें वरुणा इसकी प्रियतमा बनी थी। विधिके विधान कितने विलक्षण होते हैं!

वज्रघोषको अपना पूर्व भव याद आ गया। असाधारण दुःख और पश्चात्तापसे उसका चित्त हिल उठा। उसने मौन भावसे अरविन्द मुनिके पादपद्ममें मस्तक झुका दिया, प्रतिज्ञा की कि, "अब हिंसा न करूंगा, यावज्जीवन १२ व्रतोंका पालन करूंगा।

मुनिवर अरविन्द विहार करके गये तब वज्रघोष हाथी भी बहुत दूर तक उन्हें पहुंचाने गया। अब तो वह अहिंसाव्रतका पालन करता है; केवल क्षुधानिवृत्तिके लिये थोडे सुखे तृण खा लेता है; अपकारीको भी क्षमा करता है; शत्रु और मित्रको भी समान समझता है; पर्व दिवसोंमें उपवास करता है; ब्रह्मचर्यसे रहता है। तपसे धीमे धीमे उसका शरीर सूखकर कांटा हो गया है, पर इसकी उसे बिल्कुल चिंता नहीं है। वह अहर्निश परमेष्ठीमन्त्रका जाप करता है।

एक दिन पिपासा-व्याकुल वज्रघोष पानी पीनेके लिये वेगवती नदीकी ओर जाता था। वहां किनारे पर ही कर्कट नामी एक सर्प रहता था। उसने वज्रघोषको काट लिया। यह सर्प कमठका जीव था। पाप-कर्मके कारण उसे सर्पका भव प्राप्त हुवा था। वज्रघोषको देखते ही सांपको अपना पूर्व वैर याद आ गया। उसने इस प्रकार उस वैरका बदला लिया।

मृत्युके समय वज्रघोषने आर्त्त-रौद्र ध्यान न किया। इस व्रतके प्रतापसे वह आठवें—सहस्रार स्वर्गमें देव हुवा। वहां उसने १७ सागरोपम अति सुखविलासमें विताए। देवके भवमें भी वह इस व्रतकी महिमा न भूला। वह मानता था कि यह सब पुण्यकी ही महिमा है। देवभवमें भी वह रोज चैत्यालयमें पूजा-भक्ति करता और महामेरु नंदीश्वर आदि द्वीपोंमें जाकर भगवानकी प्रतिमाको वंदन करता था।

देवोंकी भी मृत्यु तो होती ही है। सतरह सागरोपमके अन्तमें उसकी देवलीला समाप्त हुई।

(३)

पूर्व महाविदेहमें, सुकच्छ नामक विजयमें वैताढ्य पर्वत पर तिलकपुरी नामक नगरी है। वहांके राजाका नाम विद्युद्गति और रानीका नाम तिलकावती है। उन्हें एक सुन्दर पुत्ररत्न प्राप्त हुवा। महापुरुषोंने कहा " अष्टम देवलोकका देव ही यहां राजपुत्रके रूपमें अवतरित हुवा है।" इसका नाम किरणवेग रक्खा गया।

बाल्यावस्थासे ही वह धर्मपरायण रहता था। पिताके पश्चात् किरणवेग सिंहासनारूढ हुवा। भरपूर समृद्धिशाली होने पर भी महाराज किरणवेगने धर्माचरणको नहीं भुलाया।

एक दिन विजयभद्र नामक आचार्य उस नगरमें पधारे। राजा किरणवेगने उनसे मोक्षमार्गका उपदेश श्रवण किया। उसके विवेकचक्षु खुल गए और संसार विषयक रुचि भी उसी दिन जाती रही। गुरुके पास दीक्षा लेकर उसने उग्र तपश्चर्या करना प्रारम्भ किया; रागद्वेष ध्वंस होने लगे।

राजराजेश्वर किरणवेग एक दिन मुनिरूपमें एक पर्वतकी एकांत गुफामें ध्यानमें बैठ थे। इतने ही में एक विकराल फणिधर आया और उसने वडे जोरसे फुंकार मारते हुवे मुनिराजके पैरमें काट लिया। धीमे धीमे उस छिद्रसे सर्पका कातिल विष समस्त शरीरमें व्याप्त हो गया।

विषज्वालासे अंग अंगमें, रोम रोममें असह्य जलन होने लगी। वेदनाका यह हाल था कि मानों शरीर भट्टीमें जल रहा है।

इतने पर भी मुनिराजने धैर्य और शान्तिको नहीं जाने दिया और अविचलित भावसे कालदूतके आधीन हो गए।

किरणवेग मुनिराजके प्राण लेनेवाला यह फणिधर पहिले कर्कट नामक सर्प था। इस सर्पके काटनेसे ही वज्रघोषने प्राणत्याग किया था। इसके पश्चात् कर्कट मरकर पंचम नरकमें गया, जहां उसे सतरह सागरोपम आयुका भोग करते समय छेदन भेदन आदि अनेक यन्त्रणाएं सहन करनी पड़ीं। नारकीका आयु पूर्ण होने पर उसने हिमगिरिकी गुफामें फणिधरके रूपमें जन्म लिया। किरणवेगको देखते ही उसका पुराना वैर जाग उठा। इसी वैरके कारण उसने इस वार भी किरणवेग जैसे राजर्षिको जहरीले डंकसे हत्या की।

(४)

मुनिवर किरणवेग वारहवें स्वर्गमें, जंबूद्रुमावर्त विमानमें देवरूपेण उत्पन्न हुवे। २२ सागरोपम आयुवाले इस देवको भी आयु पूरी होने पर देवलोकका त्याग करना पडा। वहांसे वे फिर मनुष्यलोकमें आये।

जम्बूद्वीपान्तर्गत पश्चिम महाविदेहमें शुभंकरा नामक एक महानगरी है। इसका नरपति वज्रवीर्य है और उसकी पटरानीका नाम लक्ष्मी-

वर्ती। महारानीने एक दिन एकके बाद दूसरा, इस प्रकार कई शुभ स्वप्न देखे और उनका वृत्तान्त महाराजासे कहा। वज्रवीर्य ज्ञानी पुरुष थे। इन स्वप्नोंसे उन्हें निश्चय हो गया कि, स्वर्गका कोई देव हमारे यहां पुत्र रूपमें आनेवाला है।

यथासमय महारानीने ६४ सुलक्षणयुक्त एक सुन्दर पुत्रको जन्म दिया। समस्त नगर इस जन्मोत्सवके आनन्द-प्रमोदमें निमग्न हो गया। पुत्रका नाम वज्रनाभ रक्खा गया। उसने बाल्यावस्थामें ही समस्त विद्याएं सीख लीं। वज्रनाभके यौवनावस्थाको प्राप्त होते होते कितने ही विदेशी राजाओंने अपनी अपनी कन्याका विवाह इस राजकुमारसे करनेके लिये दौड़धूप कर डाली। धीमे धीमे उसने राज्यकी बागडोर अपने हाथमें ली।

एक दिन वज्रनाभ अपनी आयुधशाला देखने गया। वहां उसे एक दिव्य चक्र मिल आया। इसे पाकर वह दिग्विजयके लिये बाहर निकल पड़ा। विजयार्ध पर्वतके दोनों ओरके छः खण्डों पर उसने अपनी हकूमत कायम की और वह चक्रवर्ती बना। १४ अपूर्व रत्नोंका भी वह स्वामी बना। अब उसके वैभवविलासमें किसी प्रकारकी कमी न रही।

इतने विशाल राज्यैश्वर्यका उपभोग करते हुवे भी वज्रनाभ एक दिन भी धर्मको न भूला। जिनपूजा, उपवास, दान, व्रत. पचक्खाण, सामायिक आदि पुण्यकार्योंमें उसने तनिक भी प्रमाद न किया। एक दिन क्षेमंकर नामक एक मुनिप्रवर (तीर्थंकर) वहां पधारे। राजाके विनयादि गुणोंसे संतुष्ट होकर उन्होंने उसे धर्मोपदेश दिया। क्षणमात्रमें वज्रनाभकी विषय-लालसा जाती रही। चक्रवर्तीके समस्त वैभवको

तृणवत् समझकर वह दीक्षा लेकर चल निकला। कठोर तपश्चर्याके बलसे वह अध्यात्मज्ञानका अधिकारी हुवा।

किरणवेगको काटनेवाला वह फणिधर अपने पापोंके कारण छठे नरकमें उत्पन्न हुवा। वहां उसे २२ सागरोपम आयु वितानेमें अनेकों असह्य यन्त्रणाएं सहन करनी पड़ीं। इसके पश्चात् उसने ज्वलन पर्वत पर कुरंगक नामक भीलके रूपमें जन्म धारण किया। वह वनमें पशुओंकी हत्या करता हुवा दिन विताता था। उसके दुष्कर्म और दुराचारकी कोई हद न थी।

सर्वस्व त्यागी वज्रनाभ एक वार इसी गंभीर अरण्यसे हो कर गुजर रहे थे। कुरंगकने उन्हें देखा और उसका पूर्व वैर ताज़ा हो गया। अति तीव्र और कठोर मनोभाववाले इस कुरंगकने मुनिवरकी जान लेनेके लिए शरसंधान किया। तीर लगते ही उसकी वेदनासे मुनिराजने तत्काल प्राणत्याग कर दिया। अन्तिम क्षण तक वे धर्मध्यानपरायण ही रहे। वे मुनिराज मध्यम ग्रैवेयकमें ललितांग नामक देव हुवे।

रौद्र ध्यानके परिणाम स्वरूप कुरंगक मरकर सातवें नरकमें गया, जहां उसने २७ सागरोपम जितने काल तक अवर्णनीय दुःख भोगे।

(५)

जंबूद्वीपके भरतखण्डमें सुरपुर नगरमें वज्रबाहु राजा राज्य करता है। उसे जिनशासनमें खूब श्रद्धा है। ललितांग देवने इस राजाके यहां जन्म धारण किया।

जन्मसे ही यह बालक इतना रूपवान था कि इसे एक बार देखने पर किसी भी दर्शककी तृप्ति न होती थी। इसकी आकृति ही

आनन्दके अणुओंसे वनी हुई थी। प्रजाको इसके दर्शनमात्रसे ही अत्यन्त आनन्द होता था। वालकका नाम सुवर्णबाहु रक्खा गया। रूपमें एवं गुण और शौर्यमें भी वह अद्वितीय था। यौवनावस्था प्राप्त होने पर अनेक राजकुमारियोंने उसके कंठमें अपनी अपनी वरमाला पहनाई[1]। सुवर्णवाहु कुमारने सिंहासनारूढ होने पर आसपासके सब छोटे-बड़े राज्यों पर विजय प्राप्त कर ली। वह एकमात्र मण्डलेश्वर वना।

एकदिन मन्त्रीने राजाके सामने शिर झुकाकर कहा '

"आज वसन्तऋतुका पवित्र दिन है। जिनशासनका भी एक पवित्र पर्व है। वहुतसे भद्रिक, भवी जीव आज जिनेश्वर भगवानकी पूजा—अर्चा—स्तुति आदि करेंगे। आपको भी इस पुण्यक्रियामें भाग लेना चाहिये।"

मन्त्रीकी सलाह मंडलेश्वरको पसंद पड़ गई। उसने नगरमें महोत्सव मनानेकी आज्ञा की। स्वयं भी स्नानादिसे निवृत्त होकर जिनमंदिरमें गया और जिनेंद्र भगवानकी पूजा की।

पूजा करते समय उसे एक शंका उत्पन्न हुई। शंका, आकांक्षा, जिज्ञासा,[2] ये किसी एक ही युगकी वस्तुएं नहीं है, प्राचीन श्रद्धा-प्रधान माने जानेवाले युगमें भी इस प्रकारकी शंकाएं उठती थीं। सुवर्ण-

---

१ यह हकीकत भट्टाचार्यजीने कहांसे ली है, यह बात उन्होंने नहीं लिखी; श्वेताम्वर साहित्यके पार्श्वनाथचरित्रमें यह नहीं है।

(गुजराती अनुवादक श्रीसुशील)

२ यहां जिज्ञासाके स्थानमें विचिकित्सा (फलका संदेह) चाहिये।

(गुजराती अनुवादक श्रीसुशील)

बाहुके अन्त:करणमें प्रश्न उत्पन्न हुवा : "प्रतिमा तो अचेतन है; इसकी पूजासे क्या लाभ?"

विपुलमति नामक एक मुनिपुंगवने सुवर्णबाहुके हृदयकी शंकाको समझ लिया। उन्होंने राजाके मनका जिस प्रकार समाधान किया वह इस युगके लिये भी अनेक प्रकारसे उपयोगी है। उन्होंने कहा:—

"चित्तकी शुद्धि अथवा अशुद्धिका आधार प्रतिमा है। आप स्वच्छ सफेद स्फटिककी प्रतिमाको रक्तपुष्पोंसे अलंकृत करें तो वह प्रतिमा भी लाल रंगकी दिखलाई देगी। काले फूल चढाओगे तो वह काली प्रतीत होगी। प्रतिमाके पास प्राणीके मनोभाव भी इसी प्रकार परिवर्तित होते है। जिनमन्दिरमें जाकर भगवानकी वीतराग आकृतिको देखनेसे चित्तमें वैराग्यभावना जागृत हुवे विना नहीं रह सकती। और किसी विलासवती वेश्याके मन्दिरमें जा पहुंचे तो वेश्याके दर्शनसे चित्तमें वासना तरंगित हुवे विना न रहेगी। वीतराग भगवानकी मूर्तिके दर्शन करनेसे, इनकी नवाङ्गी पूजा करनेसे, इनके निर्मल गुणोंका हमें क्षणक्षणमें खयाल आता है, हमारे मनोभाव विशुद्ध होते है। ज्यों ज्यों परिणाम विशुद्ध बनता है त्यों त्यों मुक्तिके मार्गमें आगे बढा जाता है।

बाह्य प्रतिमाके दर्शनसे प्रेक्षकके मनमें अनेक प्रकारके भाव जाग्रत होते हैं। एक साधारण उदाहरण लीजिये। मानलो, शहरमें एक असामान्य रूपयौवनसंपन्ना वेश्या रहती है। उसकी अचानक मृत्यु हो जाय। उसका शव स्मशानमें पड़ा हो। उसमें जीव नहीं है, जडवत् शरीर पड़ा है। उसके पाससे कोई कामी पुरुष गुजरता है। उस कामी पुरुषके मनमें उस जड़ देहको देखकर किस प्रकारके विचार

उत्पन्न होंगे? उसे यह खयाल न आएगा कि, यह वेश्या जब जीवित थी तब कितनी रूपवती होगी? इसने अपने जीवनकालमें कितने युवकोंको कटाक्षबाणसे घायल किया होगा?

इसी स्मशानमें एक कुत्ता आ पहुंचता है। वह सोचता है कि, ये लोग किस लिये इस जड शरीरको जला देते हैं? इसे ऐसे ही छोड दें तो फिर हमारे कैसें गुलछर्रे उड़े!

इसी स्मशानके पाससे होकर एक साधुपुरुष निकलते हैं। वे इस कलेवरको देखकर सोचते है: "मनुष्य देह मिलने पर भी इस जीवने इसका कैसा दुरुपयोग किया? देहसे इसने तपश्चर्या की होती तो इसका कितना कल्याण होता?"

सारांश यह कि, एक ही अचेतन देहको देखनेवाले तीन व्यक्ति भिन्न भिन्न प्रकारके विचार करते है; एक मृतदेह तीन मनुष्योंके चित्तमें पृथक पृथक् रंग भरती है। बाह्य वस्तुके दर्शनका कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ता ऐसा न मानना चाहिये। जिनप्रतिमाका ध्यान करनेसे, उसकी पूजा करनेसे, इनके गुणोका स्मरण करनेसे हमारे चित्तमें विशुद्धिके अंशकी वृद्धि होती है। यही विशुद्धि हमें धीमे धीमे-स्वर्गादिका सुख और मुक्ति भी दिलाती है।

सुवर्णबाहुकी शंका जाती रही। विपुलमति मुनिवरने इस राजाको और भी बहुतसी बातें बतलाईं और यह भी बतलाया कि तीन लोकमें कितने कितने चैत्य हैं।

"सूर्य-विमानमें भी एक स्वाभाविक, सुन्दर, अपूर्व जिनमंदिर है।" उस दिनसे सुवर्णबाहुने निश्चय किया : कि, वह नित्य प्रातः

और सायं महलकी खुली छत पर खड़ा होकर सूर्यविमानमें स्थित जिन-बिम्बको अर्घ्य अर्पण किया करेगा। इस निश्चयके अनुसार वह रोज प्रातः सायं खुली छत पर खड़ा होकर, सूर्यके सम्मुख देखकर अर्घ्य देता और जिनबिम्बको उद्देश्य करके दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता।

अपने नगरमें भी उसने एक सूर्य-विमान तैयार कराया और उसमें जिन-प्रतिमाकी स्थापना की।

प्रजा धीमे धीमे महाराजाकी पूजापद्धतिका अनुकरण करने लगी, सुबह शाम सूर्यको अर्घ्य देने लगी। इसी प्रकार कितने ही वर्ष बीत गए। प्रजा यह बात भूल गई कि सूर्य एक विमान है और उसमें एक जिनप्रतिमा है। केवल सूर्यकी पूजा शेष रह गई। आज भी यह अवशेष सूर्योपसनाके नामसे प्रसिद्ध है।

धीमे धीमे सुवर्णबाहुने वार्द्धक्यका आगमन देखा और संसार-प्रपंचोंसे निवृत्त होकर दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षा लेनेके पश्चात् सुवर्णबाहुने कठोर तपश्चर्या की। उसके प्रभावसे उन्हे कई अपूर्व सिद्धियां प्राप्त हुईं। इस राजर्षिके आसपास वनमें कहीं भी दुःख और क्लेशका नाममात्र भी न रहा। स्वभावसे ही हिंसक ऐसे पशु-प्राणी भी आपसके वैर भूल गए। सिंह और शशक सम्बन्धियोंके समान एक साथ रहने लगे। लता-वृक्षों पर भी राजर्षिके पुण्यका प्रभाव पड़ा। वन-वृक्ष फूलों-फलोंसे लद गए। सरोवरोंमें निर्मल जल और कमल लहराने लगे।

ऐसे शांत एकांत सुखमय अरण्यमें राजर्षि सुवर्णबाहु आत्मध्यान

करने लगे।

एक दिन राजर्षि ध्यानमें बैठे थे। इतनेमें एक सिंह उधर आ पहुंचा। राजर्षिको ध्यानमें बैठा देखकर उसने एक छल्लांग मारी और उनका शरीर चीर डाला। प्राणान्त कष्ट सहने पर भी मुनिराज तनिक भी चंचल न हुवे। मरकर उन्होंने दशम प्राणत स्वर्गमें इन्द्रपद प्राप्त किया।

इन्द्रकी ऋद्धि-समृद्धि मिलने पर भी वे भोगविलासके रंगसे अछूते रहे। वे नित्यप्रति जिनपूजा करते और देवताओंको वीतरागधर्मके महत्त्वका उपदेश देते थे। इस प्रकार उन्होंने २० सागरोपमकी आयु व्यतीत की।

राजर्षि सुवर्णबाहुके प्राण लेनेवाला सिंह अन्य कोई नहीं, पर नरकसे लौटा हुवा दुराचारी कमठका ही जीव था।

(६)

सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने कुबेरको कहा: "दशवें स्वर्गका देव हालही में मानवलोकमें अवतीर्ण होनेवाला है। केवल छ: मास अवशेष है। यह पुरुष २३ वां तीर्थङ्कर होनेवाला है। वे भरतक्षेत्रस्थित वाराणसी नगरीमें अवतीर्ण होंगे। इक्ष्वाकुवंशी महाराजा अश्वसेन और उनकी धर्मपत्नी पतिव्रता वामादेवीको इन महापुरुषके पिता तथा माता होनेका सौभाग्य प्राप्त होगा।"

तदनन्तर धनकुबेरने वाराणसीमें नित्य प्रति तीन करोड़ रत्नोंकी वर्षा करनी प्रारम्भ की, कल्पवृक्षके पुष्प बरसाने लगा और दिव्य गन्धमय निर्मल जल छिड़कने लगा। आकाशमें देवदुन्दुभि बजने लगी एवं वहीं स्थित देव स्तुति-गान करने लगे। वाराणसीमें ऐश्वर्यकी बाढ़सी आगई। जन समूहके आनन्दकी सीमा न रही।

एक पुण्यरात्रिको वामादेवीने १६ स्वप्न देखे। स्वप्न देखनेके पश्चात् जागृत होकर महारानीने स्वप्नका वृत्तान्त राजासे कह सुनाया। राजा जानता था कि जब तीर्थंकर, चक्रवर्ती गर्भमें आते है तब उनकी माता इस प्रकारके शुभ स्वप्न देखती है। वाराणसीके महाराजा एवं देवलोकके देवोंने यह उत्सव बड़े आनन्दके साथ मनाया।

नौ मास पूरे होने पर पौप मासमें कृष्ण पक्षकी दशमीके दिन वामादेवीने पुत्ररत्नको जन्म दिया। इसी समय इन्द्रका आसन हिल उठा, दिशाओंके मुख हर्षातिरेकसे देदीप्यमान हो गये। नारकीके जीवोंको भी एक घड़ीके लिए सुख प्राप्त हुवा। वायुकी तरंगोमें प्रमोदकी मादकता व्याप्त हो गई। तीनों भुवनोंने अपूर्व उद्योतका अनुभव किया। पुत्रका नाम श्रीपार्श्वनाथ रक्खा गया।

(७) Fiftysix story

प्रभावती कुशस्थलके राजाकी राजकन्या थी। एक दिन वह सखियोंके साथ वनक्रीडाके लिए निकली। वहां उसने किन्नरियों द्वारा गाई जाती हुई श्रीपार्श्वकुमारकी गुणगाथा सुनी। उसी दिन उसने पार्श्वकुमारके अतिरिक्त किसी अन्यसे विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा करली।

कलिंग देशाधिपति प्रभावतीको अपनी बनाना चाहता था। उसने प्रभावतीके पिता प्रसेनजितके राज्यके आसपास घेरा डाल दिया। नगरके आवागमनके मार्ग बन्द हो जानेके कारण कुशस्थलकी प्रजा भयंकर त्रास पाने लगी। कलिंगसेनाके सहज प्रमादका लाभ उठाकर मन्त्रीकुमार कुशस्थलसे भाग निकला। उसने जाकर पार्श्वकुमारके पिताको इस आपत्तिका हाल सुनाया। अश्वसेनने युद्धकी तैयारी कर दी।

पार्श्वकुमारने पिताको समझाकर युद्धका नेतृत्व स्वयं अपने हाथमें ले लिया। कलिंगपति यवनने पार्श्वकुमारके बलवीर्य और पराक्रमकी बात अपने मन्त्रीसे सुनकर युद्धका विचार छोड दिया और अपना कुठार अपने गलेमें बांधकर पार्श्वकुमारके चरणोंमें जा गिरा और बोला: "मेरी धृष्टता क्षमा कीजिये।"

पार्श्वकुमारने बिना युद्ध किये ही विजय प्राप्त की और फिर पिताके आग्रहसे प्रभावतीका पाणिग्रहण किया।

एक दिन पार्श्वकुमार अपने महलके झरोखेमें बैठे बैठे विश्वकी लीला देख रहे थे। उस समय उन्होंने कुछ स्त्रीपुरुषोंको विविध प्रकारका नैवेद्य हाथमे लिये, उत्साहपूर्वक जल्दी जल्दी नगरके बाहर जाते हुवे देखा। उन्होंने प्रश्न किया: "इस प्रकार ये लोग कहां जाते होंगे?"

एक अनुचरने उत्तर दिया: "कोई तपस्वी पंचाग्निकी साधना कर रहा है। ये लोग उसका सत्कार करने जाते है।"

कुतूहलवश पार्श्वकुमार भी घोडेपर सवार होकर उस टोलीके पीछे चल दिये। घोडे पर चढ़ने, हाथीकी पीठ पर बैठकर जंगलो घूमने और जलक्रीडा करनेका उन्हें प्रथमसे ही अभ्यास था।

पार्श्वकुमारने निकट पहुंचकर देखा तो एक मृगचर्मधारी, जटाधारी तपस्वी पञ्चाग्निके मध्यमे बैठा हुवा आतापना ले रहा है। पार्श्वकुमार बहुत देर तक इस तापसके कायाक्लेशको देखते रहे।

तापस अपने मनमें सोचने लगा: "इतने सारे नरनारी मुझे प्रणाम करते है, भक्तिभावसे नैवेद्य चढ़ाते हैं, परन्तु इस अश्वारूढ कुमारकी आंखोंमें केवल कुतूहलमात्र ही है. इसका क्या कारण होगा?"

'एक ओरकी अग्नि जरा बुझने लगी, इस लिए तापसने पास पडे हुवे एक भारी काष्ठखंडको उठाकर उसमें डालनेके लिये हाथ बढाया।

"ठहरो," पार्श्वकुमारने सत्तावाही स्वरमें कहा।

तापस इस प्रकारकी आज्ञा सुननेका अभ्यासी नहीं था। उसके हृदयमें बहुत देरसे कुमारके प्रति गुप्त रोष भरा था। अब उससे न रहा गया।

पार्श्वकुमारने तापसके संक्षोभको पहिचान लिया और उसके कुछ बोलनेसे पूर्व ही कहा: "इस प्रकारके अज्ञानमय तपसे, केवल कायाक्लेशसे आप किस अर्थकी सिद्धि चाहते हैं?" इस अप्रिय उपदेशमें भी तपस्वीने एक प्रकारकी मृदुता और मधुरताकी झंकारका अनुभव किया।

"राजकुमार! ज्यादेसे ज्यादा तो आप घोडे नचाना जानते है; धर्मज्ञानका दावा आप नहीं कर सकते। धर्म तो हमारे अधिकारका विषय है। यह तप केवल कायाक्लेश है या स्वर्ग और मुक्ति दिलाने, वाला हैं, इस बातको जितना हम जानते है उतना आप नहीं जान सकते।" साधुके वचनोंमे तिरस्कार स्पष्ट झलकता था।

"यह तो आप भी मानेंगे ही न कि, दयाके विना धर्म नहीं रह सकता? और इसमें तो खुल्लमखुल्ला दयाका ही दिवाला निकल रहा है।" पार्श्वकुमारने तापसका मिजाज ठिकाने लानेके लिए मूल बात पकड़ी।

"आपने कैसे जाना कि इसमें लेशमात्र भी दया नहीं है?" अब तापसके अन्तःकरणमे भी अग्निका संताप धधक उठा।

"आपके अज्ञानमय तपमें यह निर्दोष सांप अकारण ही जल रहा है, आपको इसकी खबर है?" यह कहकर पार्श्वकुमारने धूनीमें

सुलगाते हुवे एक काष्ठखण्डको अपने मनुष्योंसे बाहर निकलवाया। इसे फाड़ने पर उसके भीतरसे, अग्निके तापसे व्याकुल और मौतका आखरी दम भरता हुआ एक बड़ा फणिधर सर्प बाहर निकल आया। पार्श्वकुमारने उसके कानोंमें नमस्कारमन्त्रके कल्याणकारी शब्द सुनाये। वह सांप तुरन्त मरकर नमस्कार मन्त्रके प्रतापसे नागाधिपति धरणेन्द्र बन गया।

बृहद् भक्तसमूहके सामने तापसकी शेखी किरकिरी हो गई और वह क्रोधमे धमधमता और वैरके कारण अबाही तबाही बकता हुवा वहांसे चल दिया।

तापसके अज्ञानमय तप और निर्दोष सर्पकी अकाल मृत्युने पार्श्वकुमारके हृदयको विलोडित कर दिया। वे सोचने लगे : कौन जाने, कितने ही एसे अज्ञानी तपस्वी रोज इसी प्रकार असंख्य निरपराध प्राणियोंके प्राण लेते होंगे? इतने प्राणियोंका वध करने पर भी इन लोगोंको अपने आपको धार्मिक कहनेमें शरम नहीं आती! हिंसा और धर्म ये दोनों एक साथ किस प्रकार रह सकते है? हिंसासे पाप और पापसे दुःखभोग, यह साधारण नियम भी ये अज्ञानी नहीं जानते, तो फिर इससे अधिककी इनसे क्या आशा की जा सकती है? अज्ञान तप क्या केवल छिल्कोंको कूटने जैसी ही निष्फल क्रिया नहीं है? दावानल लगने पर, अन्य कोई अच्छा मार्ग न मिलनेसे, जिस प्रकार बहुतसे अज्ञानी पशु-प्राणी बचनेकी आशासे पुनः उसी दावाग्निमें कूद पड़ते है, उसी प्रकार अज्ञानी तपस्वी भी संसारसागरसे पार उतरनेकी आशासे, कायाक्लेशको धर्म समझकर संसारदावानलमें ही फंस जाते

है। वस्तुतः सम्यग् श्रद्धा और सम्यग् ज्ञानके बिना जीवके निस्तार पानेका अन्य कोई उपाय नहीं है।"

पर यह तापस था कौन? उसका नाम कमठ। अज्ञान तप तपते हुवे, अन्तःकरणमें वैरभाव धारण किये हुवे वह कमठ, पंकप्रभा नरकके दुःख भोगकर, विविध तिर्यंचोंकी योनिमें भ्रमण करता हुवा यहां आया था। वही फिर मेघमाली हुवा।

(८)

वायुके कणकणमें वसन्तकी मादकता भरी थी। वृक्ष, लता, पुष्प और तोरण सभी ऋतुराजका जयगान कर रहे थे। वसन्तोत्सवके मौन संगातसे दिशाएं मुखरित हो रही थीं। पार्श्वकुमार भी यह उत्सव मनानेके लिये उद्यान-विहार कर रहे थे।

इतनेमें उनकी दृष्टि महलकी भीत पर चित्रित एक चित्र पर पड़ी। यह चित्र श्रीनेमिनाथ भगवानका था। चित्रकारने इसमें अपना पूरा पूरा कौशल दिखलाया था।

"राजिमती जैसी अनन्य अनुरागवती स्त्रीका, विवाहके समय ही, त्याग करके चले जानेवाला पुरुष क्या यही है? यौवनके आरम्भमें नवयौवनाका त्याग करनेवाला यह पुरुष कितना इन्द्रियजित होगा?" पार्श्वकुमार उपरोक्त चित्र देखते ही विराग-भावनाकी पुनित श्रेणी पर आरूढ हो गये।

चारों ओर व्याप्त विलास-प्रमोदकी रागनीमें पार्श्वकुमारने विषादका स्वर सुना। उत्सवका सब आनन्द हवा हो गया। इनके गृहस्थावासका यह तीसवां वर्ष था।

संसारके स्वरूपको आच्छादित करनेवाला परदा पार्श्वकुमारकी दृष्टिके आगेसे हट गया। जिस जीवको इन्द्रका अगाध वैभव भी परितृप्त न कर सका उसे संसारके क्षणिक सुखोपभोग किस प्रकार सन्तुष्ट कर सकते थे? सारे समुद्रका पान करने पर भी जिसकी तृषा शान्त न हो सकी उसे इस संसारके ओसबिन्दुओं जैसे सुखोंसे क्या शान्ति मिल सकती है? इन्द्रियसुख और इन्द्रियलालसाके कारण नटके समान अनेक विलक्षण अभिनय करते हुए संसारी स्त्री-पुरुषोंकी एक बड़ी चित्रशालाको पार्श्वकुमार न जाने कब तक देखते रहे।

उन्होंने संसार-त्यागका दृढ निश्चय किया। माता-पिताकी अनुमति लेकर [वार्षिकदान देकर] वे सर्वस्व त्याग करके चल दिये। देवों और इन्द्रोंने भी उस दिन महोत्सव मनाया। पार्श्वकुमारका संसारका त्याग संसारके महान् सौभाग्यका अवसर था। उनके साथ ३०० जितने राजाओंने दीक्षा ली।

पार्श्व भगवान विहार करते हुवे एक दिन कुवेके निकटवर्ती एक वटवृक्षके नीचे कायोत्सर्गमें स्थिर हो गये। सूर्यास्त हो चुका था। पासवाले तापस आश्रममें भी शान्ति प्रवर्तमान थी।

इस समय मेघमालीने पूर्व वैरकी याद करके भगवान पर अनेक प्रकारके उपसर्गोंकी वर्षा की।

मूशलधारा वर्षाका उपद्रव अन्तिम और सबसे अधिक कठोर था। मेघधारा क्या थी, मानों प्रलयकाल स्वयं मेघका रूप धारण करके पृथ्वी पर उतर आया हो, इतना तुफान मच गया, पानीकी एक एक बून्द शिकारीके गोफनसे निकले हुवे पत्थरके समान आघात करती थी।

सिंह, वाघ, भेड़िया और हाथी जैसे प्राणी भी घवरा उठे। जहां पानी ठहर भी न सकता था वहां भी वर्षाका जल कृत्रिम तालावके समान स्थिर हो गया।

वर्षाका यह पानी वढते वढते, कायोत्सर्गमें अचल खड़े हुवे भगवानकी नासिका तक जा पहुंचा, तथापि भगवान पार्श्वनाथ तो अचल और अडग ही रहे।

इसी समय धरणेन्द्रका आसन कांपा। उसने तुरन्त आकर भगवान् पर अपने सात फणोंका छत्र धारण किया। अन्ततः पराजित मेघमालीने भी भगवानसे क्षमा याचना की।

दीक्षा लेनेके पश्चात् ८४ दिन वीतने पर चैत्र कृष्णा चतुर्दशीको विशाखा नक्षत्रमें भगवानको केवलज्ञान हुवा।

(९)

केवलज्ञानके प्रभावसे पार्श्वप्रभु तीनों लोकके समस्त पदार्थोंको जानते हैं। उनके आसपास शान्ति, प्रसन्नता और सुख लहराते हैं। वृक्ष और लताएं भी फलों और पुष्पोंके भारसे झुके रहते है। वे जहां जाते है वहां देव समवसरणकी रचना करते है। इस समवसरण सभामें सव प्राणियोंके लिये स्थान होता है।

भगवानने देशदेशान्तरमें सद्धर्मका खूब खूब प्रचार किया। काशी, कोशल, पंचाल, महाराष्ट्र, मगध, अवन्ती, मालव, अंग, वंग आदि आर्यखण्डके समस्त देशोंमें सत्यधर्मका प्रकाश पहुंचा। संसारके दुःखोंसे दु खी, संतापसे संतप्त असंख्य जीव भगवानकी वाणी सुनकर जिनशासनसे प्रेम करने लगे।

भगवानके परिवारमें १६ हजार साधु, २८ हजार साध्वी, एक

लाख चोसठ हजार श्रावक एवं तीन लाख सत्ताईस हजार श्राविकाएं हुईं। ३५७ चौदपूर्वी, १४०० अवधिज्ञानी, ७५० केवली और एक हजार वैक्रिय लब्धिधारी हुवे।

कमठ जैसा भगवानका वैरी भी पार्श्वनाथ प्रभुकी शांति और उनका धैर्य देखकर उनके चरणोंमें गिरा। भगवानका उपदेश सुनकर उसने भी अपने हृदयमें रहे हुए जहरको निकाल फैंका। आखिरको उसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त हुई और वह मोक्ष-मार्गका अधिकारी हुवा। पार्श्व प्रभुकी करुणाकी वर्षा, मित्र और वैरीके भेद बिना, सर्व जीवों पर समान रूपसे होती थी।

कितनेक तापस अज्ञानमय तप कर रहे थे; केवल कायाक्लेश सह रहे थे। उन्होंने पार्श्व प्रभुके सत्यमार्गका स्वीकार किया।

निर्वाणके एकाध महिना पूर्व भगवान् संमेतशिखर पर पधारे। जैन समाजमें यह तीर्थ बहुत प्रसिद्ध है। यहां बहुतसे साधकों, मुनिवरोंका पवित्र आगमन हुवा है। जिस कालके विषयमें इतिहास भी मौन है, उस अति प्राचीन समयमें इस स्थान पर बहुसंख्यक वैराग्यवान पुरुषोंने आत्मकल्याणकी साधना की है।

इसी स्थान पर पार्श्वनाथ प्रभुने श्रावणशुक्ला अष्टमीको ३३ मुनिवरोंके साथ मुक्ति प्राप्त की। इनके देहका अन्तिम अग्निसंस्कार देववृन्दने अत्यन्त भक्तिपूर्वक किया।

आज तो पार्श्वनाथ भगवान शान्तिमय सिद्धशिला पर विराजमान है एवं वे अब कभी मर्त्यलोकमें वापस नहीं आएंगे। फिर भी उनका सत्यमार्ग आज सबके लिये खुला है। उनके नामसे स्मरणीय बना

हुवा पार्श्वनाथ-पर्वत आज भी मोहभ्रांत मनुष्योंकी आंखमें अपूर्व अंजन लगाता है।

यहां पार्श्वनाथके जीवनचरित्रकी बहुत हल्की रेखाएं चित्रित की गई हैं। जिन्होंने युद्धभेरी अथवा शंखनाद सुननेकी आशा की होगी उन्हें शायद इसे पढ़ने पर निराश होना पड़ा होगा। जिन्होंने इसे इस लिये पढ़ा होगा कि, इसमें रक्तपातकी भयंकर घटनाओं और प्रेममद के रंगविरंगे चित्र देखनेको मिलेंगे, उन्हें भी शायद यह रुचिकर न हुवा हो, परन्तु भारतवर्षके जिन अनेक आर्य महापुरुषोंने कठिन साधना की है और जिन्होंने इस साधनाके प्रतापसे, कभी न बुझनेवाली प्रकाश-की मशाले जलाई हैं, उन महापुरुषोंमेंसे श्रीपार्श्वनाथ भगवान् भी एक वन्दनीय पुरुष हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

कोई प्रश्न कर सकता है—"पर क्या ये पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष हैं?"

पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष हैं, इसी लिए तो जैन मतको बौद्ध-धर्मकी शाखा कहनेवालोंको चुप होना पड़ा है। चौवीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर कुछ जैनधर्मके प्रवर्तक नहीं हैं। इनके पहिले भी जैनधर्म वर्तमान था, यह वात श्रीपार्श्वनाथके ऐतिहासिक वृत्तान्तने सिद्ध कर दी है। महावीर भगवानसे पहिले भी पार्श्वनाथने जैनधर्मका प्रचार किया था। पार्श्वनाथ भगवान महावीरस्वामी जितने ही ऐति-हासिक पुरुष है।

पार्श्वनाथ प्रभुके चरित्रमें कितनी ही अलौकिक घटनाओंका होना संभव है। परन्तु इतने ही से इनकी ऐतिहासिकता का इन्कार नहीं

हो सकता। रामायण, महाभारत और पुराणोंके राजवंशोंकी बातको जाने दीजिए; विक्रमादित्य, राजा भोज और दूसरे रजपूत राजाओंके चरित्रमें भी न जाने कितनी विचित्र बातें आ घुसी हैं; तथापि इनकी ऐतिहासिकताके विषयमें कोई शंका नहीं करता।

यदि कोई यह सिद्धान्त बना बैठे कि जहां अलौकिकता है, वहां ऐतिहासिकता रह ही नहीं सकती, तो फिर तो अशोक और गौतम बुद्ध भी काल्पनिक पुरुष ही माने जायेंगे। ईसाइयोंके ईसुखीस्त और इसलाम धर्मके प्रवर्तक मुहम्मद पैगम्बरके चरित्रमें क्या अलौकिक घटनाएं नहीं है? सिक्ख संप्रदायके गुरु नानक, कबीर और गुरु गोविन्दके जीवनमें भी अलौकिक घटनाएं आई हैं। अभी कल ही की बात है, श्रीरामकृष्ण परमहंस और केशवचन्द्र सेनका जीवनचरित्र भी ऐसी घटनाओंसे अस्पृष्ट नहीं रहा। सारांश यह कि, पार्श्वनाथ भगवानके जीवनचरित्रमें अलौकिक घटनाए है इसी कारण पार्श्वनाथ नामका कोई पुरुष हुवा ही नहीं, यह बात न माननी, न कहनी चाहिए।

जैन आगम साहित्यमें गणधर गौतम और केशीका एक सम्वाद मिलता है। इस सम्वादमें यदि तनिक भी ऐतिहासिकता हो तो इस बातमें जरा भी शक न होना चाहिये कि महावीर स्वामीके पूर्व जैन संप्रदाय था और भगवान पार्श्वनाथ उसके परिचालक थे। आचार्य केशी पार्श्वनाथ भगवानके शिष्य थे। वे पार्श्व भगवानके अनुयायियोंके एक नेता भी थे। गौतमस्वामी और इनमें जो सम्वाद हुवा उसमें क्या महावीरस्वामीने ही सर्वप्रथम सत्यधर्मका प्रचार किया है? महावीरस्वामी प्रदर्शित मार्ग पर चलनेसे जीवोंकी मुक्ति हो सकती है

या नहीं?—इत्यादि प्रश्नोंकी छानबीन की गई है, यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है। केशी मुनिके सब प्रश्नोंका गौतमस्वामीने सन्तोषकारक समाधान किया था।

आचार्य केशीने पूछा : "पार्श्वनाथने तो चार महाव्रत बतलाए है, फिर वर्धमान पांच क्यों बतलाते है?"

गौतमस्वामी उत्तर देते हैं : "पार्श्वनाथको अपने समयकी स्थितिके अनुसार चार महाव्रत ही उचित प्रतीत हुवे होंगे। महावीरने अपने कालके औचित्यके अनुसार इन्हीं चार व्रतोंको पांच व्रतोंमें विभक्त करना उचित समझा। वस्तुतः सिद्धान्तकी दृष्टिसे तो दोनों तीर्थंकरोंके निरूपणमें कुछ भी भेद नहीं है।

अचेलक और सचेलक विषयकी चर्चा करते हुवे गौतमस्वामी एक और समाधान भी करते हैं :—

वस्त्रके त्याग अथवा स्वीकारके बारेमें भी कुछ मतभेद नहीं है। लोगोंके विश्वासके लिये ही भिन्न भिन्न प्रकारके उपकरणोंकी कल्पना की गई है। संयम निभानेके लिये और अपने ज्ञानके लिये भी लोगोंमें वेषका प्रयोजन है। नहीं तो, निश्चय नयके अनुसार तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मोक्षके सत्य साधन है। इस प्रकार पार्श्वनाथ भगवान् और वर्धमानस्वामीकी एकसी प्रतिज्ञा है। वेष तो केवल व्यवहारनयकी अपेक्षासे है।

पार्श्वनाथ भगवानके संप्रदायके नायक श्रीकेशीकुमारको इससे विश्वास हो जाता है कि पार्श्वनाथ भगवान और वर्धमानस्वामीके उपदेशमें किसी प्रकारका मौलिक मतभेद नहीं है। इसके पश्चात् दोनों

संप्रदाय एक दूसरे में मिल गए।

इस विवेचनसे इतना सिद्ध होता है—

(१) भगवान् महावीरके पूर्व भी जैन सम्प्रदाय था।

(२) यह संप्रदाय पार्श्वनाथको तीर्थंकर मानता और उनके उपदेशमें पूर्णतः श्रद्धा रखता था।

(३) महावीरस्वामीने पार्श्वनाथके शासनका संस्कार और संशोधन करके उसका खूब प्रचार किया था; उन्हें कुछ नवीन बात कहनी न थी। केशी गौतम सम्वाद पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकताको सिद्ध करता है।

जैन मन्तव्यके अनुसार भगवान् महावीरस्वामीके निर्वाणसे २५० वर्ष पूर्व भगवान् पार्श्वनाथका निर्वाण हुवा है। भगवान् पार्श्वनाथकी आयु १०० वर्षकी थी। ईसवी सनके ५९९ वर्ष पूर्व महावीरस्वामीका जन्म और ५२७ वर्ष पूर्व निर्वाण हुवा था। ५२७ में २५० मिलानेसे ८७७ होते हैं; अतएव ईसवी सनके ८७७ वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ भगवानके जन्मसे यह भारतभूमि धन्य हुई थी।

भगवान् पार्श्वनाथ ३० वर्ष गृहस्थावस्थामें और ७० वर्ष व्रतावस्थामें रहे अर्थात् उन्होंने कुल १०० वर्षकी आयु भोगी।

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति।
प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः॥

कमठने प्रभुपर उपसर्ग किये, धरणेन्द्रने उनकी भक्ति की, तथापि पार्श्वनाथने तो दोनो पर समान दृष्टि ही रक्खी। ऐसी समान दृष्टिवाले प्रभु आपकी सम्पत्तिके लिये हों।

महामेघवाहन महाराजा खारवेल

प्राचीन समयमें, भारतवर्षके प्रख्यात आर्य राज्योंमें कलिंगका नाम विशेष महत्त्व रखता है। कलिंगका ऐश्वर्य और उसकी धर्मनिष्ठाके वर्णनसे इतिहासके पृष्ठ सुशोभित है। वह सभ्यता कितनी पुरानी है यह तो अभी तक निश्चय नहीं हो सका। अति प्राचीन पुस्तकोंमें भी कलिंगका नामोल्लेख है। एलेकज़ेंडरकी सवारीके वर्णनमें कलिंगका नाम है; मेगस्थनीज़ने भी अपनी प्रवासपुस्तकमें कलिंगको स्थान दिया है। महाराजा अशोकके एक शिला-लेखमें कलिंगके सत्यानाशकी एक अत्यन्त रोमांचकारी घटनाका वर्णन है। यह शिलालेख साबाजगिरि पर्वतमें मिला है। उसका मूल पाठ और अर्थ नीचे दिया जाता है:—

"अ(ढ्टव) अ अभिसित (दे)वान प्रिअस पिअद्रशी (स) राज्ञो क (लिग विजित) (दियध) मत्रे (प्रणशत सहस्रे) येततो अपवूढे सतसहस्र (म) त्रे तत्र हते बहु (तवतके) मूटे (।) ततो (प)छ अधून लघेसु (कलिंगेसु) तित्रे ध्रम (पलनम्) ध्रम (क) मत ध्रमनुशस्ति च देवानं प्रि (अ)स। सो अस्ति अनुसोचन (म्) देवानं प्रिअस विजिनितु (क)लिंग(नि) (।) अविजितं हि (विजि) नमनि (ये) तत्र वधो व (म) रणम् व अपव(हो) व जनस (।)

तं वधं वेदनिय मतं गुरुमतम् च देवानं प्रिअस (।) इमं पि चू ततो गुलमत (त)रं (देव)निं प्रिअस (।) तत्र हि वसंनि ब्रह्मण व श्रमण च अञ्ञेव वुसङ्ग ग्र(ह)थ व येसु विहित एरा अग्र भू (टि) सुस्रुस मतपितुसु सुस्रुस गुरुणं सुस्रस(मित) संस्तुत अहयज्वतिकेसु (द) सम(ट)कनम् सम्मपटिपति दिढ (भतित) (।) तेपं तत्र भोति अपग्रथो य वधो व अभिरतन व निक्रमणं (।) येध च पि सविहितनं (ने) हो अविप्रहिणो ए (ते) य मित संस्तुत सहयञ्ञतिक वसन व्रपुणति (।) तत्र तंपि तेष वो अपग्रथो भोति (।) पटिभगम् च एतम् सव्रम् मनुसनम् गुरुमतम् च देवानम् प्रिअस (नस्ति) च एकतरस्पि पि प्रसंसपि न नम प्रसदो (।) सो यमत्रो (जनो) तद कलिगे हतो च मूटो च अपवु (चो) च त (तो) शतभगे सहस्रभगं व अज गुरुमतम् वो देवानं प्रिअस (।) या पि च अपकयेय ति छमितविधमते वो देवानं प्रिअस यं शको छमनये (।) य पि च अटवि देवानं प्रिअस (वि) जिते भोति त पि अनुनेति अनुनिझपेति (।) अनुतपे पि च प्रभवे देवानं प्रिअस (।) वुचति तेष कि ति अवत्रपेसु न च हंचेयसु (।) इछति देवानं प्रियो सव्र भूतन अछति संयमम् समचरियं रभसिये (।) एसे च मु (ख) मूते विजये देवानं प्रिअस यो ध्रमविजयो सो ये पुन लधो देवानं प्रिअस इह च स (व्रे) सु च अंतेषु अषसुपि योजनश (ते) षु यत्र अंतियोको नम योनरजि परंच तेन अंतियोकेन चतुरे रजनि तुरमये नम अंतिकिनि नम मक अलिकसुदरो नम निच चोड पड अव तंवपंनिय एवमेव हिदरज (।) विशवज्रि योन कंबोयेसु नभके न(भि)तिण भोज पितिनिकेसु अंध्र पुलि (दे) सु सवत्र देवानं प्रिअस

ध्रमनुशस्ति अनुवटंति (।) यत्रपि देवानं प्रियस दूत न व्रचंति ते पि श्रु (तु) देवानं प्रिअस ध्रमवुढं विवेनं ध्रमनुशस्ति ध्रमं (अनु) विधियंति अनुविधियिशंति च (।) यो (च) लवे एतकेन भोति सवत्र विजयो स (वत्र पून) विजयो प्रितिरसो सो (।) लध (भोति) प्रिति ध्रमविजयस्पि (।) लहुक तु यो स प्रिति (।) परत्रिक मेव महफल मेंचति देवानं प्रियो। एतये च अठहे अयो ध्रमदिपि (दं) पिस्त कि ति। पुत्र प्रपोत्र मे असु नवं विजयं म विजेतवि (य) म् मंच्चिषु क यो भिजये (छम्) तिच लहुदम् (ड) तं च रोचेतु तं ए (व) विजमंच (।) यो ध्रमविजये सो हिदलोकिको परलोकिक सत्र च नियति भोतु य (स्त्र) मरति (।) स हि हिद्लोकिक परलोकिरु (।)"

इस लेखका मर्म इस प्रकार है—

"अभिषेकके अष्टम वर्षमें देवप्रिय राजा प्रियदर्शीने कलिंग पर विजय प्राप्त की। इस युद्धमें एक लाख (शतसहस्र) मनुष्य मारे गये, और इससे भी अधिक बन्दी बने। कलिंग-विजयके पश्चात् देवप्रियका मन धर्मकी ओर आकर्षित हुवा। देवप्रियके मनमें अत्यन्त पश्चात्ताप होनेसे और-कलिंग विजयके कारण अत्यन्त अनुताप उत्पन्न होनेसे इनका धर्मप्रेम अत्यन्त बढ गया है। अविजित देशों पर अधिकार प्राप्त करनेमें जो वध करना पड़ता है, मनुष्योंको मारना पड़ता है और उन्हें बन्दी बनाना पड़ता है उससे मेरे अन्तःकरणको बहुत चोट पहुंची है। विशेष खेदका विषय तो यह है कि ब्राह्मण, श्रमण, यति और धार्मिक गृहस्थ सर्वत्र रहते है, इनमेसे कितने ही गुरुजन, माता-पिता आदिकी सेवा करते होंगे, बन्धु-बान्धव और जातिवालोंकी सेवामें

तत्पर रहते होंगे और अपने नौकरों तथा दासदासियोंके प्रति प्रेम रखते होंगे; मालूम नहीं कलिंग-युद्धमें ऐसे कितने ही मनुष्य मर गए होंगे; न जाने कितने अपने प्रिय जनोंसे विलग हो गए होंगे। जो जीते बचे हैं उनके बन्धुओंने, जाति भाइयोंने और कुटुम्बियोंने न जाने कितने अत्याचार सहन किये होंगे? इससे इन सबको अत्यन्त दु:ख हुवे बिना नहीं रह सकता। देवप्रिय राजा प्रियदर्शीको अपने इन सब अत्याचारोंसे बहुत दु:ख होता है, गंभीर मर्मव्यथाका अनुभव होता है। भूतल पर ऐसा एक भी देश नहीं है जहां ब्राह्मण, श्रमण और अन्य धर्मपरायण लोग न बसते हों। ऐसा भी कोई देश न होगा जहां मनुष्य किसी न किसी एक धर्मका अनुसरण न करते होंगे। कलिंगके इस युद्धमे जो इतने अधिक मनुष्य मारे गए है, घायल हुवे है, बांधे गये है और क्रूरताके भोग हुए है उनके लिये देवप्रिय राजाको आज हज़ार गुनी अधिक पीड़ा होती है, उसका चित्त शोकमग्न हो जाता है। आज अब देवप्रिय समस्त प्राणियोंकी रक्षा और मंगलकी भावना रखता है। वह चाहता है कि, सब प्राणियोंमे दया, शांति और निर्भयता रहनी चाहिये। देवप्रिय राजा इसे धर्मकी जय मानता है। देवप्रिय अब अपने राज्यमें और सैकड़ों योजन दूरवाले सीमा पर स्थित प्रदेशोंमें इस प्रकारकी धर्मविजयको प्रवर्तित करनेमें आनन्दित होता है। यवनराज एन्टियोकासके राज्यमे तथा उसके राज्यकी सीमाके आगेवाले टोलेमी, ऐन्टिगोनस, मेगास और एलेकजेण्डर, इन चार नृपतियोंके राज्योंमें, दक्षिणमें चोलराज्य और पांड्यराज्यमें एवं ताम्रपर्णी तक समस्त स्थानोंमें विशव्रजि, यवन, काम्बोज, नाभाक, नभपंथी,

भोज, पिटिनिक, आंध्र, पुलिन्द आदि सव जातियोके राज्योंमें अव देव-प्रियके धर्मानुशासनका पालन होता है। जिन जिन देशोंमें देवप्रियके दूत गये है उन उन देशोंकी प्रजाने देवप्रियका धर्म सुना है और उसका पालन भी किया है। इस प्रकार सर्वत्र धर्मकी विजय हुई है। इससे देवप्रियको वहुत आनन्द हुवा है। परन्तु वह इस आनन्दको तुच्छ समझता है। वह पारलौकिक कल्याणको अधिक श्रेयस्कर मानता है। इसी लिये यह अनुशासनलिपि तैयार की गई है। मेरे पुत्रों और पौत्रोंको अव नवीन राज्यो पर विजय प्राप्त करनेकी उत्सुकता छोड़ देनी चाहिये। धर्मविजय सिवाय अन्य किसी प्रकारकी विजयकी इन्हे वृत्ति न होनी चाहिये। अस्त्रशस्त्रोंकी सहायतासे वास्तविक विजय प्राप्त नहीं हो सकती। धर्मविजय ही इस लोक और परलोकमें मंगलकारी है। उन्हे धर्मविजयमे ही श्रद्धा होनी चाहिये, यही उभय लोकमें हितकारी है।"

ऐतिहासिक दृष्टिसे यह शिलालेख वहुत मूल्यवान है। इसमें भारतवर्ष और उसके आसपासके देशोंका तत्कालीन वर्णन मिलता है। ग्रीस राजाके जो नाम इसमें है वे सव सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक है अशोकके काल-निर्णयमें यह उपयोगी हो सकता है। मौर्य साम्राज्यका कितना विस्तार था, कितने खंडिया राजा थे और कितने मित्रराज्य थे, इस वातका भी इसमें उल्लेख है।

इस शिलालेखसे यह मालूम होता है कि, महाराजा अशोक द्वारा विजित होनेसे पूर्व कलिंगदेश, एक स्वतन्त्र, समृद्ध और वस्तीसे अच्छी आवादीवाला देश था। ब्राह्मण, श्रमण (साधु) और अन्य धर्मपरायण

महात्मा वहां रहते थे। यह नया मौर्य सम्राट अपने शौर्यके अभिमानमें चूर होकर कलिंग-विजयके लिये निकला। पर कलिंगने दीनता न प्रकट की, वह भी मुकावलेमें आ डटा। इतिहास तो इस युद्धकी कथाको भूल गया। इसका पूर्ण विवरण नहीं मिलता, तथापि अशोकका शिलालेख यह सिद्ध करता है कि यह युद्ध एक त्रासदायक और रोमांचकारी घटनाके रूपमें परिणत हो गया था। स्वदेशके स्वातन्त्र्यकी रक्षाके लिये, धर्म, धन और मानकी रक्षाके लिये लाखों कलिंगवासिओंने अपनी देह वलिदान की थी। लाखों कलिंगवासी मौर्यसम्राटके वन्दी बने थे। कितने ही लोगोंको अपने प्यारे वतनसे विलग होना पडा था। अनेकोंको असह्य यन्त्रणाकी चक्कीमें पिसा जाना पड़ा था। इस युद्धमें अशोकने विजय प्राप्त की थी। कलिंगको मगध-सम्राटके चरणों पर नतमस्तक होना पडा था।

परन्तु मनुष्यत्वकी दृष्टिसे देखे तो कलिंगने ही अशोक पर विजय प्राप्त की थी। कलिंगयुद्धके भयंकर मानवसंहार और पाशविक अत्याचारने अशोकके हृदयको विदीर्ण कर दिया। इसके वाद अशोकने कोई युद्ध नहीं किया। कलिंग-युद्ध उसके जीवनमें अन्तिम युद्ध बन गया। इसके पश्चात् उसने धर्मका आश्रय लिया। देखते ही देखते उसने अपनी धर्मनिष्ठाके लिये ख्याति प्राप्त कर ली। पर्वतों परके उसके शिलालेख और अनुशासन इस वातकी साक्षी दे रहे हैं।

प्रवल पराक्रमी चक्रवर्ती जैसे अशोक राजाने धर्मके लिये जिस त्यागभावनाका स्वीकार किया है वह आर्यावर्तके प्राचीन राजाकी एक विशिष्टताकी द्योतक है। रघुपति, युधिष्ठिर और जनक आदि राजर्षि

जैसे पौराणिक राजाओंकी वात जाने दो, ऐतिहासिक कालमें भी पराक्रमी और धर्मपरायण राजाओंकी कमी नहीं रही। कौन नहीं जानता कि, विक्रमादित्य राजराजेश्वर होनेके साथ ही धार्मिकोमें भी अग्रगण्य था। सम्राट चन्द्रगुप्तने अपने अन्तिम जीवनमें जैनधर्मकी दीक्षा ली थी, ऐसा वर्णन भी मिलता है। महाराजा कनिष्क और शिलादित्य जैसे वौद्ध राजा पराक्रमी थे और साथ ही धर्मपरायण भी थे, यह वात इतिहासवेत्ता एक स्वरसे स्वीकार करते है। अशोकके संवन्धमें भी यही वात है। एक ओर कलिंगकी विजय, अर्थात् असाधारण शौर्य, वीर्य था और दूसरी ओर ज्वलन्त धर्मनिष्ठा—धर्मके सतत प्रचारके लिये अविराम उद्योग था।

कलिंगदेश मगधकी वेडियोंसे कव तक जकड़ा रहा यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। यह भी ठीक ठीक नहीं कह सकते कि यह वेडी कव और किसने तोड फैंकी। इसमें तो संदेह नहीं कि, अशोककी मृत्युके पश्चात् तुरन्त ही कलिंग साम्राज्यसे वाहर—मुक्त—हो गया था। मगधमें मौर्यशासन अन्तिम श्वास ले रहा था, मृत्युशैया पर पड़ा था, उस समय कलिंगके एक प्रतापी राजपुरुषका जन्म हो चुका था। इस राजपुरुषका नाम था खारवेल।

खारवेल पराक्रममें अशोकसे किसी प्रकार भी कम न था। धर्मनिष्ठामें वह अशोकका प्रतिद्वन्द्वी था। महाराजा खारवेल महामेघवाहनके नामसे भी प्रसिद्ध था। वह जैनधर्मावलम्बी था।

उड़ीसाके उदयगिरिकी हाथी गुफामेंसे महाराजा खारवेलका एक शिलालेख मिला है। वह ठीक ठीक नहीं पढा जाता, उसका अर्थ

करनेमें भी वहुतसी कठिनाइयोंका सामना करता पड़ता है। उसके विषयमें पण्डितोंमें वहुत मतभेद है। यहां मै उसमेंसे कुछ पाठ उद्धृत करता हूं। संभव है इसमें भी कुछ भूलें हो। एक एक पंक्ति उद्धृत करके उसका अर्थ दिया जायगा।

(१)

"नमो अरहतान [।] नमा सवसिधान [।] ऐरेन महाराजेन माहा-मेघवाहनेन चेतिराजवसवधनेन पसथसुभलखनेन चतुरन्तलुठितगुनोपहितेन कलिंगाधिपतिना सिरि खारवेलेन।"

"अर्हतको नमस्कार। सकल सिद्धोंको नमस्कार। (यह) महाराजा ऐरकर्तृक (खोदित)। वह मेघरूप महारथ पर आरूढ है। वह मन और इच्छासे उज्ज्वलतम धनका अधिकारी है। उसका शरीर अत्यन्त सुन्दर है। उसकी सेना अत्यन्त निर्भय है। कलिंग द्वीपके ८२ पर्वतों पर उसने गुफाएं खुदवाई है।"

प्रिन्सेपका कथन है कि, इस लेखको खुदवानेवाले राजाके वास्तविक नामका इसमें उल्लेख नहीं है। उसने अपनेको 'ऐर' और 'महा मेघवाहन' नामसे सुचित किया है। 'ऐर' शब्दका अर्थ इरा अर्थात् पौराणिक ईलाकी सन्तान होता है। महामेघवाहन शब्द भी काल्पनिक अर्थका द्योतक है। प्रिन्सेपके पश्चातके पण्डितोंने प्रिंसेपके अर्थोंमें कुछ भूलें निकाली है। उनके मतानुसार उपरोक्त पंक्तिका अर्थ इस प्रकार होता है—

"अर्हतको नमस्कार, सकल साधुओंको नमस्कार। आर्य महाराजा खारवेल श्री (कर्तृक खोदित); इनका दूसरा नाम महामेघवाहन है। ये कलिंगाधिपति हैं। ये चेतवंशधर है। वह क्षेमराज अर्थात् शान्ति-

प्रिय नरपति है। वह वृद्धों और भिक्षुओंका राजा है।"

(२)

"पन्दरसवसानि सिरिकडारसरीरवता कीडिता कुमारकिडिका [।] ततो लेखरूपगणनाववहारविधिविसारदेन सवविजावदातेन नववसानि योवरजं पसासितं [।] संपुणचतुविसतिवसो तदानि वधमान सेसयो वेनाभिविजयो ततिये।"

"उसका शरीर अत्यन्त सुन्दर था। १५ वर्षकी आयु होने तक उसने बालक्रीडा की। तदनन्तर नौ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। गणित, पोतविद्या, वाणिज्य और व्यवहार (न्याय) आदि सीखकर सब विद्याओंमें विशारद हो गया। इस समय वृद्ध राजाकी अवस्था ८५ वर्षकी थी।" यह अर्थ प्रिन्सेपका है। आजकल, पाण्डत इसका अर्थ इस प्रकार करते है--१५ वें वर्षमें उसने युवराजपद प्राप्त किया और नौ वर्ष तक वह युवराज रहा।

(३)

"कलिंगराजवसपुरिसयुगे महाराजाभिसेचनं पापुनाति (।) अभिसितमतो च पधमे वसे वातविहतगोपुरपाकारनिवेसनं पटिसखारयति। कलिंगनगरि [।] खबीरइसितालतडागपाडियो च बधापयति सबुयानपटिसठपनं च।"

"इस प्रकार २४ वर्षकी आयुमें जब ज्ञानवान् एवं धर्मज्ञाता होकर यौवनमें पदार्पण किया तब उसने कलिंगराजवंशीयोंके साथ पुरीके युद्धमें तीसरी बार विजय प्राप्त की। इस विजयसे इसकी महाराज पदवी पवित्र हुई। राज्याभिषेकके पश्चात् उसने विप्रधर्म अर्थात् वेद-शासित ब्राह्मणधर्म पर आसक्त होकर, आंधियोंसे जीर्ण हुवे नगर, किलों और घरोंका पुनरुद्धार कराया। कलिंग शहरमें दरिद्रों (अथवा साधुओं) के लिये तालाब, घाट बनवाये और अन्य आव-

श्यक वस्तुओंके लिये चिरस्थायी प्रबन्ध किया।"

प्रिन्सेप इस प्रकार अर्थ करके अनुमान लगाते है कि खारवेल किस धर्ममें श्रद्धा रखता था यह बात अनिश्चित है। "विप्रधर्म पर आसक्त" था इससे प्रकट है कि वह जैन नहीं था। परन्तु आजकलके अन्य पण्डित इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं:—

"वह २४ वर्षकी आयुमें कलिंग राजवंशके तीसरे पर्यायमें महाराज पदाभिषिक्त हुवा। राजत्वके पहिले वर्षमें उसने आंधियोंसे जीर्ण हुवे नगर, किलों और घरोंका जीर्णोद्धार कराया। कलिंग नगरमें उसने शीतल तालाव तथा उधानादिका पुनर्निर्माण कराया।"

(४)

"करयति [॥] पनतिसाहि सतसहसेहि पकतियो च रजयति। दुतिये च वसे अचितयिता सानकणि पछिमदिस हयगजनररधबहुल दड पठापयति। कन्हवेंनां गतय च सेनाय वितासित मुसिकनगर ततिये पुन वसे।"

"८३ शतसहस्र पण व्यय करके उसने प्रकृतिवर्गका रंजन किया। हाथी, घोडों, मनुष्यों और रथोंके लिये पश्चिम भागमें सूत्रधारने जो एक दूसरा घर बनाया था उसमें अन्य घरोंकी वृद्धि की, जो कंसवनमेंसे देखनेके लिये आते थे उनके लिये; शकनगरके अधिवासियोंकि वातायन" प्रिन्सेपका यह अर्थ बहुत छिन्न भिन्न है। यह समझमें नहीं आता। आज विद्वान उपरोक्त पंक्तिका अर्थ इस प्रकार करते है—

"राजत्वके दूसरे वर्षमें उसने शातकर्णिको अग्राह्य करके, पश्चिमकी ओर एक बड़ी सेना भेजी और कौशांबोंकी मददसे एक नगर पर अधिकार प्राप्त किया।"

(५)

"गयववेदबुधो दंपनतगीतवादितसन्दसनाहि उसवसमाजकारापनाहि च कीडापयति नगरिं। तथा चवुथे वसे विजाधराधिवास अहतपुव कालिंगपुवराज-निवेसित ..वितधमकुल सविलमढिते च ..निखितछत-"

"वह पुण्यपरायण और गंधर्वविद्यामे भी सुनिपुण था। दंपन और तमत बजाता। सुन्दरी और हर्षदायिनी नागरीओंके साथ आनन्दमें समय बिताता। और लोकव्यवस्थाके लिए उसने पूर्व कलिंगमेंसे विद्वान अर्हतोंको एक महासभामें आमन्त्रित किया था। इन सब आर्हतोंको प्राचीन राजन्योंने बहुत दीर्घ कालसे वहां प्रतिष्ठित किया था।" यह प्रिन्सेपका किया हुवा अर्थ है।

इस अर्थमें बादको कुछ सुधार किया गया है—

"वह गंधर्वविद्यामें बहुत निपुण था। राजत्वके तीसरे वर्षमें उसने अपने नृत्य गीत नाटच आदिसे नगरवासियोंको खूब आनन्दित किया था। कलिंगके पूर्ववर्ती राजा जिस धर्मस्थान (साधुनिवास)का पहिले बहुत मान करते थे, उसका उसने भी, राजत्वके चौथे वर्षमें बहुत सन्मान किया।"

(६)

"भिंगारे हितरतनसापतेये सवरठिकभोजके पादे वदापयति। पंचमे च दानी वसे नन्दराजतिवससतओघाटित तनसुलियवाटा पनाडिं नगर पवेस[य]ति। सो .....भिसितो च राजसुय [य] सदशयंतो सवकरवण."

"फिर उसने दानपरवश होकर....नंदराजाके नष्ट एक सो घर.... और स्वयं वजपनादि नगरका सब कुछ ले लिया। इस सब लूटसे मिले हुवे मालको उसने पूर्वोक्त सत्कर्मोमें व्यय किया।"

प्रिन्सेपका यह अर्थ बिल्कुल समझमें नहीं आता। परन्तु इसके बादके पण्डितोंने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

"राष्ट्रिको और भोजगणने उसकी आधीनताका स्वीकार किया। नन्दराजाके बाद १०३ बरस तक बन्द पड़ी रही पानीकी नहरको उसने अपने राजत्वके पंचम वर्षमें सुधरवाकर, तनसुल्यके मार्गसे नगरके बीचमें जारी की।"

(७)

"अनुगह अनेकानि सतसहसानि विसजति पोरं जानपदं। सतमं च वस पसासतो वजिरघरव[ˇ]ति घुसितघरिनीस [मतुकपद] पुना[ति ? कुमार]......। अठमे च वसे महता सेना .....गोरथगिरिं"

प्रिन्सेप इसके विषयमें सिर्फ इतना ही कहते है कि "उसने लाखों अनुग्रह किये।" आधुनिक पण्डित इसका इस प्रकार अर्थ करते है—

"राजत्वके छठे वर्षमें उसने शहर और देशके निवासियों पर लाखों अनुग्रह किये।.... आठवें वर्षमें उसने मगध पर चढाई की और गोरखगिरि तक पहुंचा।"

(८)

"घातापयिता राजगह उपपीडाप्यति। एतिनं च कं मापदानसनादेन। समितसेनवाहनो विपमुचितु मधुर अपयातो यवनराज डिमित...(मो ?) यछति (वि)... पलव..."

"जिस राजाको उसने नष्टभ्रष्ट किया उसे गुफामें बन्द कर दिया। हत्यारोंको भी उसने सत्कर्मरत किया।.... मधुर वचन और विनयादिका उपयोग करता था।"

यह अर्थ भी त्रुटित है। प्रिन्सेप इससे अधिक कुछ भी निश्चय

न कर सके। परन्तु आजकल पण्डित इसका कुछ और ही अर्थ कहते हैं:

"राजगृहका राजा मथुराकी ओर भाग गया।"

(९)

"कपरुखे हयगजरथसहयते सवघरावासपरिवसने सअगिणठिया। सवगहनं च कारयितुं बम्हणान जातिं परिहार ददाति। अरहतो. .व न...गिय"

"कपि, गाय, अश्व, हाथी, भैंस और घरकी अन्य उपयोगी वस्तुएं ....दुष्टोंको निकाल बाहर करना .. ब्राह्मण सेवकोंको दान किया।" यह प्रिन्सेपका अर्थ है।

अब इसका अर्थ इस प्रकार किया जाता है:—

"राजत्वके नवम वर्षमें उसने ब्राह्मणोंको खूब दान दिया।"

(१०)

"...क [ ] मान [ति] रा [ज] सनिवास महाविजय पासाद कारयति अठतिसाय सतसहसेहि। दसमे च वसे दडसधीसाममयो भरधवसपठानं महिजयन ..ति कारापयति...(निरितय) उयातानं च मनिरतना [नि] उपलमते।"

"राजाने पंचदश विजयका महल बनवाया था। प्राचीन राजाओंके देशमें उसे कुछ गौरव न दिखलाई दिया ...उसने ईर्षा और मूर्खता फैली हुई देखी।...१३०० में....विचार करके ..."

खण्डित अक्षरोंका अर्थ बैठानेका यत्न करते हुवे भी प्रिन्सेपने इसका अधूरा ही अर्थ किया है।....यह अर्थ होता है—

"उसने महाविजय महल बनवाया। सुवर्णका कल्पवृक्ष दानमें दिया। इस वृक्षके सब पत्ते सोनेके थे। ब्राह्मणोंको हाथी, घोड़े, सारथी सहित रथ अर्पण किये। और भी बहुतसे दान किये। ब्राह्मणोंने खुशीसे स्वीकार किया।"

(११)

"... .मड च अवराजनिवेसित पीथुडगदभनगलेन कासयति [ि] जनस दभावन च तेरसवससतिक ['] तु भिदति तमरदेहसघात। वारसमे च...वसे...हस...के. ज. सवसेहि वितासयति उतरापथराजानो."

प्रिन्सेप इसका कुछ भी अर्थ न कर सका। अन्य विद्वान इस प्रकार अर्थ करते हैं:—

"राजत्वके दसवें वर्षमें सेना भेजकर विजय प्राप्त की। ११ वें वर्षमें लोगोंको आनन्दित करनेके लिये उसने अपने एक पूर्वजकी काष्ठ-मयी मूर्ति बनवाकर एक जलूस निकाला।"

कुछ लोग इस लेखसे यह अर्थ निकालते है कि, ११ वे वर्षमें उसने, पिथुद नामक एक अत्यन्त प्राचीन नृपति द्वारा स्थापित क्षेत्र हलसे जुतवाया। उससे पहिले ११३ वर्षसे जिनपदध्यान बन्द रहा था।

(१२)

".. मगधान च विपुल भय जनेता हथी सुगगीय ['] पाययति। मागध च राजान बहसतिमित पादे वदापयति। नदराजनीत च कालिंग जिन सनिवेस..... गहरतनान पडिहारेहि अङ्गमागधवसु च नेयाति।"

प्रिन्सेप कुछ ठीक अर्थ नहीं कर सका। आजके पण्डितोंका किया हुवा अर्थ इस प्रकार है—

"१२वें वर्षमें उसने उत्तरापथके राजाओं पर आक्रमण किया। मगधवासियोंके हृदयमें आतंक जमानेके लिये उसने गंगा नदीमें अपने हाथी नहलाए। मगधराज उसके चरणोंमें नतमस्तक हो गया। उसने मन्दिरोंको सजाया और बहुत दानवृष्टि की।"

(१३)

"... तु [ ] जठरलिखिलबरानि सिहरानि निवेसयति सतवेसिकन परिहारेन। अभुतमछरिय च हथिनावन परिपुर सवदेन हयहथीरतना[मा] निक पण्डराजा चेदानी अनेकानि मुतमणिरतनानि अहरापयति इध सतो।"

"वाराणसीमें भी उसने पुष्कल स्वर्ण वितीर्ण किया....बहुतसे मूल्यवान रत्न दान दिये।" यह प्रिन्सेपकृत अर्थ है।

(१४)

"......सिनो वसीकरोति। तेरसमे च वसे सुपवतविजयचक कुमारीपवते अरिहते [य?] पखीणससितेहि कायनिसीदीयाय यापञावकेहि राजभितिनि चिनवतानि वसासितानि। पूजाय रतउवास खारवेलसिरिना जीवदेहसिरिका परिखिता।"

"१३०० में उसने पर्वतविजयकी कन्याके साथ विवाह किया।" प्रिन्सेपके इस अर्थमें निम्न लिखित सुधार हुवा है—

"राजत्वके १३वे वर्षमें उसने कुमारी पर्वत पर एक स्तम्भ स्थापित किया और आर्हत-निवासोका जीर्णोद्धार कराया।"

(१५)

"... ..[सु] कतिसमणसुविहितान [नु?] च सतदिसान [नु?] ञानिन तपसि इसिन सघियन [नु?] अरहतनिसीदिया समीपे पभारे वराकरसमुथपिताहि अनेकयोजनाहिताहि प. सि. ओ .सिलाहि सिहपथरानिसि [.] धुडाय निसयानि।"

प्रिन्सेप इसका अर्थ न कर सका। आजकल पण्डित इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—

"आर्हत-निवासोंके पास रत्नखचित, चार खम्भोंवाले कामचलाऊ मकान भी बनवाए।"

(१६)

"घटलीग्ह चतरे च वेडुरियनमे थम्मे पतिठापयति पानतरिया सतसहसेहि। मुरियकालवोछिन च चोयठिअगसतिक तुरिय उपादयति। खेमराजा स वढराजा स भिखुराजा धमराजा पम्तो सुनतो अनुभवतो कलाणानि।"

"उसने भूमि गृह, चैत्य मंदिर और स्तम्भोंका निर्माण कराया।"

प्रिन्सेपका मत है कि इसी पंक्तिमें शौरसेनके साथके युद्धकी बात होनी चाहिये।

(१७)

"......गुणविसेसकुसलो सवपानटपूजको सवदेवायतनसकारकारको। [अ] पतिहत चकिवाहिनिलो चकधुरो गुतचको पवतचको राजसिवसकुलविनिश्रितो महाविजयो राजा खारवेलसिरि।"

"अन्य मतावलम्बी भी जिसकी सतत पूजा करते हैं वह, शत्रुओंका संहार करनेवाला, लक्षपति, बहुतसे पर्वतोंका निर्भय अधिपति, सूर्यके समान, विजेता खारवेल।"

खारवेलके इस शिलालेखके उपरोक्त पाठमें बहुतसी अशुद्धियां हैं। पंक्तियोंके अर्थके सम्बन्धमें भी पण्डित एकमत नहीं है। शिलालेखके अक्षर-वाक्य बहुतसी जगहमें खण्डित हैं। अत एव पाठ और अर्थका यथोचित निर्णय नहीं हो सकता। तथापि जो कुछ समझमें आया है, जो मान्य हुवा है उससे इस खारवेलके शिलालेखका ऐतिहासिक मूल्य पूर्वोक्त अशोकके शिलालेखसे तनिक भी न्यून नहीं है।

अशोकके शिलालेखके समान इस खारवेलके शिलालेखमें भी, इसे खुदवानेवाले नृपतिके जीवनकी कितनी ही हकीकतें मिल जाती हैं। उसके पड़ोसी राज्योंके सम्बन्धमें भी थोड़ी जानकारी मिलती है

खारवेलका लेख यह बात निस्सन्देह रूपसे सिद्ध करता है कि खारवेल स्वयं जैनधर्मावलम्बी था। वह जब सिंहासनारूढ हुवा तब यद्यपि कलिंग स्वतन्त्र था, तथापि उससे थोड़े ही समयपूर्व उसपर भयंकर आक्रमण हो चुका था, जिससे उसकी प्रजा बरबाद हो चुकी थी। प्रसिद्ध प्रसिद्ध चैत्य मन्दिर, प्रासाद आदि वीरान हो चुके थे, इतना ही नहीं, अपितु प्रचलित धर्म और साधुसम्प्रदायको भी बड़ा भारी आघात पहुंचा था। यह सब इस लेखकी पंक्तियोंमें बराबर सुरक्षित रहा है। कलिंग पर किये गये इस सीतमकी कहानी अशोकका शिलालेख भी कह रहा है। असंख्य कलिंगवासी तलवारकी धार उतरे थे, बेड़ियोंमें जकड़े गये थे, नगर उजाड़ हो गए थे और धर्मध्यान करनेवाले साधु परेशान हुवे थे, यह बात अशोकके अपने लेखमें भी है। यह अनुमान किया जाता है कि अशोककी चढ़ाईके बाद कलिंगकी जो दुर्दशा हो गई थी उसका सुधार खारवेलने किया। उसने देशके चैत्य मन्दिरों आदिकी पुन. प्रतिष्ठा की और कलिंगके मन्द हुवे ऐश्वर्यको एक बार पुन. जगमगा दिया।

इस शिलालेखमें यह भी अंकित है कि कलिंगमें पहिलेसे ही अर्थात् बहुत लंबे समयसे जैनधर्मका प्रचार था। ऐसा प्रतीत होता है कि, अशोकके प्रबल आक्रमणसे प्रचलित जैनधर्मको भी बहुत कुछ आघात पहुंचा था। महाराजा खारवेलने इस लुप्त होते हुवे धर्मका पुनरुद्धार किया। जिनशासनके साधुसंप्रदायके लिये उसने उपाश्रय बनवाए और जो जीर्ण हो गए थे उनकी मरम्मत कराई।

खारवेल केवल धार्मिक ही नहीं था। वह शौर्य वीर्यमें भी कुछ

कम न था। तत्कालीन प्रसिद्ध राजा सातकर्णीकी भी उसने बिल्कुल परवाह न की। देश देशमें—दिशाओंमें उसकी विजयदुन्दुभिका नाद गुञ्ज रहा। स्वर्गपुरकी गुफामेंसे जो शिलालेख मिला है वह तो खारवेलको चक्रवर्ति राजा बतलाता है। जिस मगधराजके अत्याचारोंसे समृद्ध कलिंग स्मशानके समान निस्तेज हो गया था, उसी मदोन्मत्त मगधके विरुद्ध खारवेलने युद्धका ऐलान किया। खारवेलके प्रतापसे घबरा-कर मगधराज मगध छोड कर मथुराकी ओर भाग निकला। तदनन्तर खारवेलने मगधके गंगाजलमें अपने हाथियोंको नहलाया, हाथीकी प्यास बुझाई। खारवेलके शिलालेखमें तो यहां तक लिखा है कि मगधराजने चरणोंमें नतमस्तक होकर खारवेलसे क्षमा याचना की। कलिंगने मगधकी शत्रुताका उससे इस प्रकार बदला लिया।

खारवेल जितना पराक्रमी था उतना ही धर्मपरायण था। वह सर्व विद्याओंमें पारांगत था। प्रजाहितके लिये दान देनेमें उसने आगे पीछे नहीं देखा। उसने तालाव खुदवाए, पुराने घरोंकी मरम्मत कराई, नये घर बनवाए, पानीकी बन्द पड़ी हुई नहरोंको फिरसे जारी किया, उत्सव मनाने आरम्भ किये और धर्मसभाएं भी कीं।

खारवेलकी एक दूसरी विशेषता यह है कि वह स्वयं जैनधर्माव-लंबी होते हुए भी उसने अन्य धर्मोंके प्रति भी आदरभाव प्रकट किया है। उसने ब्राह्मणोंको बहुत दान दिया है। वाराणसी तो वेदानुयायी तथा बौद्ध लोगोंका तीर्थस्थान है, उसमें भी खारवेलने बहुतसे पुण्यकर्म किये है। सर्व धर्मोंमें समभावना रखना भारतीय राजवी संस्थाकी एक विशेषता है। महाराजा खारवेलके लेखमें स्पष्टतया प्रकट किया गया

है कि पासंडी अर्थात् भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी भी सतत खारवेलका गुणगान करते है।

महाराजा खारवेलने हस्तिसिंहके प्रपौत्र लल्ककी कन्यासे विवाह किया था। महारानी भी महाराजाके समान अत्यन्त धर्मपरायणा थीं। इन्होंने भी खारवेलके समान, जैन मुनियोंके लिये गुफामन्दिर बनवाए थे।

खारवेलके समयके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद है। मगधराज अशोकके बाद खारवेल हुवा है, यह तो प्रिन्सेप आदि सभी मानते हैं। जूमों डूब्रेइलके मतानुसार ई. स. पू. १७० में खारवेल सिंहासनारूढ हुवा। भगवानलाल इन्द्रजी कहते है कि, मौर्य संवतके १६४ वर्ष पश्चात् खारवेलका यह शिलालेख खोदा गया होगा। ई. स. पू. २५६में अशोकने कलिंग देश पर विजय प्राप्त की थी। भगवानलालके कथनानुसार २५६–१६४=९२ (ई. स. पू.) खारवेलका समय होता है। उपरोक्त शिलालेखकी १६ वीं पंक्तिमें आए हुवे **"पनतनुशत........ ....राजा......रिय ल मछिनेन च चयष अगिसति कतिरियम् नपादछति"** इन शब्दोका संस्कृत अनुवाद भगवानलाल इन्द्रजी इस प्रकार करते है—

"विच्छिन्ने य चतुःषष्टिः अत्र शतकोत्तरे"=विच्छिन्नायाम् य चतुःषष्ट्याम् अत्र–शतकोत्तरायाम्" अर्थात् मौर्य राज्यके १६४ वर्ष बीत गए। ई. स. पूर्व २५६ वर्षको ये मौर्य संवत् मानते है। २५६–१६४=९२ (ई. स. पूर्व) में महाराजा खारवेलके राजत्वका १३वां वर्ष मानें तो ९२+१३=१०५ (ई. स. पूर्व) में खारवेल कलिंगके राजसिंहासन पर बैठा, ऐसा कह सकते है।

बुलरका कहना है कि चन्द्रगुप्तके अभिषेकके समय मौर्य संवत् प्रचलित होना चाहिये। बहुत करके ई. स. पूर्व ३२० में चन्द्रगुप्त सिंहासनारूढ़ हुवा। अत एव बुलर साहबकी गणनाके अनुसार ३२०-१५१=१६९ (ई. स. पूर्व) में खारवेल राजगदी पर बैठा होगा। ड्रूवेइलका भी यही मत है।

डॉकटर फ्लीट ' पनतनुशत...राजा...रियल मछिनेन च चयख अगिसति कतरियम न पादछति " इन शब्दोंका अर्थ इस प्रकार करते हैं:—

" मौर्य राजाओंके समयसे जो लुप्तप्रायः थे, उन सात अंगवाले जैन आगमके ६४ अध्याय और अन्य परिच्छेदोका भी इसने पुनरुद्धार किया।" फ्लीटका कथन है कि इन पदोंमे ऐसा कोई समयनिर्देश नहीं है जैसा कि भगवानलाल इन्द्रजीने लिखा है।

११ वीं पंक्तिके अनुवादमें भगवानलाल कहते हैं कि, १३०० वर्षसे पूर्वके राजा गदभनगरमें जो कर अथवा तनपदभावन लेते थे उसे खारवेलने बन्द कर दिया। फ्लीट इस अनुवादको ठीक नहीं मानते। वे उस वाक्यका अनुवाद इस प्रकार करते हैं:—

" ११३ वर्षसे जो शहर खंडहर हो गया था, जिसमें केवल प्रवासी ही डेरा डालते थे उस उद्रग नगरका (अथवा पूर्वजोंने प्रतिष्ठित किये हुवे नगरका) उसने पुनरुद्धार किया।" विशेषमें डॉकटर फ्लीट यह भी कहते हैं कि, इसमें खारवेलके समयका कुछ धुंधला निर्देश मिलता है। ई. स. पूर्व २५६ मे अशोकने कलिंग-विजय की इस लिये उसी समय उद्रंग नगर खण्डहर हो गया होना चाहिये। इसके ११३

वर्ष पश्चात् खारवेलने इसका पुनरुद्धार किया। अर्थात् २५६–११३= १४३ (ई. स. पूर्व) खारवेलके राज्यका ११वां वर्ष होगा। इस प्रकार ई. स. पूर्व १५४ में खारवेलने राजदंड धारण किया होना चाहिये।

अध्यापक लुडार्स ई. स. पूर्व २८० वर्ष पहिले खारवेलका समय मानते है।*

(इस आलोचनाका अन्तिम भाग नहीं मिल सका। परन्तु इस प्रकारके ऐतिहासिक आधारोंसे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि, ई. स. पूर्वकी शताब्दीमें कलिंगमे जैनधर्मका खूब प्रचार था और महा पराक्रमशाली चक्रवर्ती महाराजाओंने भी यह धर्म स्वीकार किया था।)

---

* यह लेख मूल बंगला भाषामें लिखा जानेके पश्चात् शिलालेखके पाठ, अर्थ और अन्य प्रमाणोंके सम्बन्धमें पुरातत्त्ववेत्ताओंने बहुत अधिक मनोमन्थन किया है। यह सब वर्णन यहा नहीं दिया गया। इतिहासप्रेमियोंको "जैन-साहित्य संशोधक" और 'अनेकात'की पुरानी जिल्दें देखनेकी प्रार्थना है।

(गुजराती अनुवादक श्रीसुशील)

भाषानुवाद

[खारवेलका शिलालेख बंगलाभाषामें लिखा जानेके पश्चात् उसके पाठ और अर्थके विषयमें पुरातत्ववेत्ताओंमें बहुत अधिक चर्चा हुई है। अन्तमें विद्यावारिधि काशीप्रसाद जायस्वालने उक्त लेखके पाठ तथा अर्थोंमें संशोधन करके उसकी बहुतसी अस्पष्टताओंको स्पष्ट कर दिया है। उसका अनुवाद श्री पं. सुखलालजीने 'साहित्य संशोधक' में प्रकाशित किया है, जिसे यहां उद्धृत किया जाता है।]

(१) अरिहंतोको नमस्कार, सिद्धोंको नमस्कार, ऐर (ऐल) महाराज, महामेघवाहन, (महेन्द्र) चेदिराज-वंशवर्धन, प्रशस्त शुभ लक्षणवाले, चतुरन्तव्यापी गुणयुक्त कलिंगाधिपति श्री खारवेलने

(२) १५ वर्ष तक श्री कडार (गौरवर्णवाले) शरीरसे बाल्यकालकी क्रीडाएं कीं। तत्पश्चात् लेख्य (सरकारी हुक्मनामे),[1] रूप (टकसाल),[2] गणना (सरकारी हिसाब किताब आय व्यय),[3] व्यवहार (कानून)

---

१. लेख्यका अर्थ (शासन) कौटिल्य अर्थशास्त्रमें १, ३१ देखिये।

२. कौटिल्य अ. १, ११ देखिये।

३. कौटिल्य अ. १, २८, रूप, लेखा और गणनाके विषयमें सूत्र थे, यह बात महावग्गकी टीकासे प्रकट होती है। महावग्ग १, ४६।

जैन सूत्रमें लिखा है कि महावीरस्वामीका नाम वर्धमान पड़नेका कारण यह था कि उनके जन्मसे ही ज्ञातिवंशको धनधान्यादिसे वृद्धि होने लगी थी।

और विधि (धर्मशास्त्रों) में विशारद होकर, सर्वविद्यावदात (समस्त विद्याओंमें परिशुद्ध) ऐसे [उन्होंने] नौ वर्ष तक युवराजकी हैसियतसे राज्य किया। तब पूरे २४ वर्षकी उमरके होकर [वि], जो बाल्यावस्थासे वर्धमान है और जो अभिविजयमें वेन (राज) है, तीसरे

(३) पुरुष युगमें (तीसरी पीढ़ीमें) कलिंगके राजवंशमें महाराज्याभिषेकको प्राप्त हुवे। अभिषेकके पश्चात् प्रथम वर्षमें, आंधी (तूफान) से जिसका दरवाज़ा टूट गया था उस किलेकी मरम्मत कराई। कलिंग नगरी (राजधानी)में ऋषि खिवीरके तलैयां–तालाव और पाल (घाट) बनवाए। सब बागोंकी मरम्मत

(४) करवाई। पैंतीस लाख प्रकृति (प्रजा)का रंजन किया। दूसरे वर्षमें सातकंणि (सातकर्णि)की तनिक भी परवाह न करके पश्चिम दिशामें (चढ़ाई करनेके लिये) घोड़े, हाथी, पैदल और रथोंवाली बड़ी सेना भेजी। कन्हवेनां (कृष्णवेणा नदी) पर पहुँची हुई सेनाके द्वारा मुसिक (मूषिक) नगरको बहुत त्रास दिया। फिर तीसरे वर्षमें

(५) गंधर्ववेदके पंडित ऐसे (उन्होंने) दंप (डफ?), नृत्य, गीत, वादत्रके संदर्शनो (तमाशों)से उत्सव, समाज (नाटक, कुस्ती, आदि) करवाकर नगरीको क्रीडा कराई। तथा चौथे वर्षमें विद्याधराधिवासको, जिसे कलिंगके पूर्ववर्ती राजाओंने बनवाया था और जो पहिले गिर नहीं गया था[१]। ०००००० [२]जिसके मुकुट

---

१. अहतपूर्वका अर्थ 'नवीन वस्त्र चढ़ाकर' ऐसा भी हो सकता है।

२. यह अक्षर नष्ट हो गए हैं।

व्यर्थ हो गए है, जिसके कवच, बख्तर, काटकर दो टूक कर दिये गए हैं, जिसके छत्र काटकर गिरा दिये गये है,

(६) और जिसका भृंगार (राजकीय चिह्न सोने-चांदीके लोटे झारी,) फेंक दिये गये हैं, जिसके रत्न और स्वापतेय (धन) छीन लिये गये है, ऐसे सब राष्ट्रिक भोजकों (चारणों)को अपने पैरों पर गिराया। अब पांचवे वर्षमें नन्दराजके १३० वर्ष (संवत्)में खुदवाई हुई नहरको तनसुलिय मार्गसे राजधानीमें ले आये। अभिषेकके (छठे वर्षमें) राजसूय यज्ञ करते हुवे करका सब रुपया

(७) माफ कर दिया, और अनेक लाखों अनुग्रह[1] पौर जानपदको बक्षिस किये। सातवे वर्षमें राज्य करते हुवे (उनकी) गृहिणी वज्रघर-वाली घुषिता (प्रसिद्ध) मातृपदको प्राप्त हुई[2] (?) [कुमार?] ०००००० आठवें वर्षमें महा ००० सेना ००० गोरथगिरि[3]

(८) को तोड़कर राजगृहको घेर लिया। इसके कामोंकी अवदान (वीरकथाओंके)के नादसे यूनानी राजा (यवनराज) डिमित ....(डेमीट्रियस)ने अपनी सेना और छकड़े इकट्ठे करके मथुरा छोड़ देनेके लिये पीछे पैर हटाए। ०००००० नवम वर्षमें (श्री खारवेलने) दिये हैं ०००००० पल्लवपूर्ण

---

१. अनुग्रहका यह अर्थ कौटिल्यमें है।

२. इस वाक्यका पाठ और अर्थ सदिग्ध है।

३. बराबर पहाड़ जो गयाके पास है और जिसमें मौर्यचक्रवर्ती अशोकके बनवाए हुवे गुफा मठ हैं, उसका महाभारत और एक शिला-लेखमें गोरथगिरिके नामसे उल्लेख है। यह एक गिरिदुर्ग हैं। इसकी चहार दीवारी अभी तक दृढ है। बड़ीबड़ी दिवालोंसे द्वार और दरार बन्द हैं।

(९) कल्पवृक्ष,[1] घोड़े, हाथी, रथवानसहित रथ, एवं मकान और अग्निकुंडसहित शालाएं। यह सब स्वीकार करानेके लिए ब्राह्मण जातिको आगीरे दीं। अर्हतके ००००००

(१०) राजभवनरूप महाविजय (नामक) प्रासाद उसने अड़तीस लाख (पग)से बनवाया। दशम वर्षमें दंड-संधि-सामप्रधान (उन्होंने) भूमिजय करनेके लिये भारवर्षमें प्रस्थान किया ००००००० जिन पर चढ़ाई की उनके मणिरत्न प्राप्त किए।

(११) ०००००००० ([2]ग्यारहवें वर्षमें) (किसी) बुरे राजाने बनवायें हुवे मंड (मंडो या बजार)को पड़े गधोंके हलसे जुतवा दिया। लोगोंको ठगनेवाले ११३ वर्षके तमरके देहसंघातको तोड़ दिया। बारहवें वर्षमें ०००००००००००० से उत्तरापथके राजाओंको बहुत त्रस्त किया।

(१२) ०००००० वह मगध वासियोंको भारी भय दिखलाता हुवा हाथियोंको सुगांगेय (प्रासाद) [3]तक ले गया। और मगधराज बृहस्पतिमित्रको[4] अपने पैरों पर झुकाया तथा राजा नन्द द्वारा ले

---

१. ये सोनेके होते थे। 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' दानकाण्ड ५। यह महादानमें है।

२. यहांसे लेकर अन्त तक प्रत्येक पंक्तिमें लगभग १२ अक्षर पंक्तिके आरम्भके पत्थरकी पतरीके साथ उखड़ गए हैं।

३. मुद्राराक्षस नाटकमें नन्द और चन्द्रगुप्तका 'सुगांग' नामक महल पाटलीपुत्रमें बतलाया गया है।

४. बृहस्पतिमित्रके सिक्के मिलते हैं, जो अग्निमित्रके सिक्कोंसे पुराने माने जाते हैं और वे उसी प्रकारके हैं।

जाई गई हुई कलिंग जिनमूर्तिको ००० और गृहरत्नोंको लेकर प्रतिहारों द्वारा अंग-मगधका धन ले आया।

(१३) ००००००००० अन्दरसे लिखेहुवे (खुदे हुवे) सुन्दर शिखर बनवाए। साथ ही सौ कारीगरोंको जागीरें दी। अद्भुत और आश्चर्य (उत्पन्न हो इस प्रकार वह) हाथियोंवाला जहाज भराहुआ नजराना हय, हाथी, रत्न, माणिक्य पांड्य राजाके यहांसे इस समय अनेक मोती, मणि, रत्न हरण करा लाया। यहां इस शक्त (योग्य महाराजने)

(१४) ००००००००० सीओंको वशमें किया। तेरहवें वर्षमें पवित्र कुमारी पर्वत पर जहां (जैनधर्मका) विजयचक्र सुप्रवृत्त है, प्रक्षीणसंसृति (जन्ममरणको पारपाये हुए) कायानिषीदी (स्तूप) पर (रहनेवाले) पाप बतानेवालों (पापज्ञापकों)के लिये व्रत पूरा होनेके पश्चात् मिलनेवाली राजभृतियां कायम कर दीं (शासन निश्चित कर दिये)। पूजामें रत उपासक खारवेलने जीव और शरीरकी श्रीकी परीक्षा कर ली। (जीव और शरीरको परख लिया।)

(१५) ०००००० सुकृतिश्रमण सुविहित शत दिशाओंका ज्ञानी, तपस्वी, ऋषि संघी लोगोंके ०००००० अरिहंतकी निषीदीके पास, पहाड़ पर, उत्तम खानोंमेसे निकालकर लाए हुवे अनेक योजनोंसे लाए हुवे ०००००० सिंहप्रस्थवाली रानी सिंधुलाके लिये निःश्रय०००

(१६) ०००००० घंटयुक्त (०) वैडुर्य रत्नवाले चार खम्भे

---

१. यह नाम खडगिरि-उदयगिरिका है जहां यह लेख है। भुवनेश्वरके निकट ये छोटे पहाड़ हैं।

स्थापित किये पछत्तर लाखके (खर्च)से। मौर्यकालमें उच्छेदको प्राप्त चौसट्ठी (चौसठ अध्यायवाले) अंगसप्तिकका चौथा भाग फिर तैयार कराया। इस क्षेमराजने, वृद्धिराजने, भिक्षुराजने, धर्मराजने कल्याण देखते, सुनते और अनुभव करते हुए।

(१७) ०००००००००००० है गुण विशेष कुशल, समस्त पंथोंका आदर करनेवाला, समस्त (प्रकारके) मंदिरोंकी मरम्मत कराने वाला, अस्खलित रथ और सैन्यवाले चक्र (राज्य)का धुरी (नेता), गुप्त-(रक्षित) चक्रवाला, प्रवृत्त चक्रवाला राजर्षिवंशविनिःसृत राजा खारवेल[1]।

---

१. लेखके आदि अन्तमें एक एक मगल चिह्न बनाया गया है। पहिला वर्द्धमगल है और सरेके नामका अभी पता नहीं चला।

जैनोंका कर्मवाद्

(२)

कर्म पुद्गल स्वरूप है, जीव-पदार्थका विरोधी है। जीवके रागद्वेषादि वि-भावके कारण जीवमें कर्मका आश्रव होता है। अथवा जीव कर्म बांधता है, ऐसा भी कह सकते है। रागद्वेषादि जीवके वि-भाव, द्रव्य-कर्मास्रवके निमित्तकारण है। जीवके वि-भाव भावकर्मके नामसे पहिचाने जाने पर भी द्रव्यकर्मके अर्थात् पुद्गल स्वभाववाले कर्मके उपादान कारण नहीं है। क्यों कि पुद्गल ही पुद्गलका उपादान कारण हो सकता है। पुद्गल-विरोधी जीव-विभाव, पुद्गलका उपादान कारण किस प्रकार हो सकता है? जीवके विभाव, अर्थात् भावकर्मका उदय जीवमें द्रव्यकर्मका आश्रव कराता है, इसी लिये जीवके विभाव द्रव्य-कर्माश्रवमें निमित्त कारण माने जाते है, और द्रव्यकर्म भी भाव-कर्ममें निमित्तरूप है। यह जैन सिद्धान्त है।

जीवमें कर्मका आस्रव होनेसे जीव 'बन्ध'में पड़ जाता है।

प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशास्तद्विधय। (तत्त्वार्थसूत्र)

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश भेदसे बन्ध भी चार प्रकार-का है। कर्मानुसार ही बन्धका विचार किया जाता है। कर्मकी

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशकी दृष्टिसे कर्मबन्धको चार प्रकारसे विवेचना की जा सकती है।

कर्मकी प्रकृति

कर्म दो प्रकारके है: घाती और अघाती। जो कर्म जीवके अनन्त ज्ञानादि स्वाभाविक गुणोंका घात करता है वह घाती कर्म कहलाता है। यह घाती कर्म भी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय भेदसे चार प्रकारका है। वेदनीय, आयु, नाम, और, गोत्र ये चार अघाती कर्मके नामसे पहिचाने जाते है। कर्म आठ प्रकारके होने पर भी उसके अवान्तर भेद १४८ हैं।

(१) **ज्ञानावरणीय कर्म** जीवके पांच प्रकारके ज्ञानको ढक लेता है। इसके पांच भेद है—

(१) मतिज्ञानावरणीय मतिज्ञानको ढके रहता है।

(२) श्रुत-ज्ञानावरणीय श्रुतज्ञान अर्थात् आगम ज्ञानको आवृत करता है।

(३) अवधि-ज्ञानावरणीय अवधि ज्ञानको ढके रहता है।

(४) मनःपर्यव-ज्ञानावरणीय अन्योंके मनके भाव पहिचाननेकी ज्ञानशक्तिको ढके रहता है।

(५) केवल-ज्ञानावरणीय केवलज्ञान—सर्वज्ञताको आवृत करता है।

(२) **दर्शनावरणीय कर्म**—जीवके दर्शन (निर्विशेष सत्तामात्र महासामान्यके अनुभव)को ढकता है। इसके ९ भेद है—

(६) चक्षुर्दर्शनावरण आंखके देखनेकी शक्तिका अवरोध

(१६) सम्यक्मिथ्यात्वकर्म—इस कर्मके उदयसे जीवको वस्तुमें सम्यक् एवं मिथ्यारूप मिश्रित श्रद्धा रहती है।

(१७) सम्यक्प्रकृति (सम्यक्त्वमोहनीय)—इस गुणके उदयसे जीवके सम्यक्त्व मूल गुणका घात नहीं होता, परन्तु चलमलादि दोष रहते हैं।

चारित्रमोहनीय कर्मके फलस्वरूप जीवका चारित्रगुण विकृत होता है। इसके भी नोकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय, ये दो भेद हैं। क्रोध, मान, माया और लोभको कषाय कहते हैं। उग्रता रहित कषाय, नोकषाय अथवा स्वल्प कषाय कहलाते हैं।

नोकषाय वेदनीयके ९ भेद हैं—

(१८) हास्यकषाय—इसके उदससे जीवकों हास्यभाव उत्पन्न होता है।

(१९) रतिकषाय—इसके उदयसे जीवकी परपदार्थमें आसक्ति होती है।

(२०) अरतिकषाय—इसके उदयसे जीवको परपदार्थमें विरागनाराजी होती है।

(२१) शोककषाय—इसके उदयसे जीवको शोक होता है।

(२२) भयकषाय—इसके उदयसे जीवको भय लगता है।

(२३) जुगुप्साकषाय—इसके उदयसे जीवको जुगुप्सा अथवा घृणा उत्पन्न होती है।

(२४) स्त्री-वेदकषाय—इसके उदयसे पुरुषसेवनकी लालसा जागृत होती है।

(२५) पुंवेदकषाय—इसके उदयसे स्त्रीके साथ कामसेवनकी इच्छा होती है।

(२६) नपुंसकवेदकषाय—स्त्री पुरुष दोनोंके साथ कामसेवनकी इच्छा होती है।

कषायवेदनीय कर्मके १६ भेद हैं। क्रोध अथवा कोप, मान अथवा गर्व, माया अथवा वंचना और लोभ अथवा लोलुपता, इन चार कषायोंका उल्लेख पहिले किया जा चुका है। फिर, क्रोधादिके चार चार भेद होनेसे कषायवेदनीय कर्मके कुल १६ भेद हो जाते हैं—

(२७–३०) अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कषायके उदयसे जीवके स्वरूपानुभवरूप सम्यग्दर्शनका घात होता है। जीव अनन्त संसारमें भटकता है।

(३१–३४) अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ कषायके उदयसे एकदेश चारित्र (अणुव्रतरूप चारित्र) भी जीवके लिये असंभव हो जाय। यह कर्म अणुव्रतका रोध करता है।

(३५–३८) प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय आत्माके समस्त चारित्रका घात करता है। यह महाव्रतका विरोधी है। चारों कषायोंमेंसे कोई एक कषाय महाव्रतका अवरोध करता है।

(३९–४२) संज्वलनकषाय चतुष्टय आत्माके यथाख्यात चारित्रका घात करता है। क्रोधादि कोई भी

कषाय यथाख्यात सम्यक्चारित्रका घात करता है।

इसका वर्णन करते हुवे जैनाचार्य कहते है कि, अनन्तानुबंधी क्रोध, पत्थरवाली भूमिमें हल चलानेसे पडी हुई और दीर्घकाल तक रहनेवाली रेखाके समान, दीर्घकाल स्थायी और अपरिवर्तनीय रहता है। मिट्टी-वाली भूमिमें हल चलानेसे पड़ी हुई रेखाके समान अप्रत्याख्यान क्रोध कषाय होता है। रेतीमें हल चलानेसे जैसी लकीर पड़ती है उसके समान प्रत्याख्यान क्रोध कषाय समझना चाहिये। और पानीमें हलकी जैसी रेखा खिंचती है वैसा संज्वलन क्रोध समझना चाहिये।

अनन्तानुबन्धी मान पर्वतके समान अचल रहता है। अप्रत्याख्यान मान कषाय अनन्तानुबन्धीसे कुछ नरम होता है। इसकी तुलना हाड-पिंजरसे कर सकते है। प्रत्याख्यान मान और भी अधिक नरम होता है; लकड़ीके समान झुक जाता है। संज्वलन मान कषाय वेतके जैसा होता है।

अनन्तानुबंधी माया बांसकी जड़ोंके समान कुटिल; अप्रत्याख्यान माया भैंसके सींगके समान वक्र, प्रत्याख्यान माया गोमूत्रकी धाराके समान और संज्वलन माया खुरके[1] चिह्न जैसी कुटिल होती है।

अनन्तानुबन्धी लोभ खूनके दागके (कृमिरंगके) समान, आसानासे न छूटनेवाला; अप्रत्याख्यान लोभ गाड़ीके पैयेमें लगे हुए ओंगनके जैसा; प्रत्याख्यान लोभ शरीरमें लगी हुई कीचडके समान और संज्वलन लोभ हल्दीके लेपके समान आसानीसे धुलनेवाला होता है।

(४) **अन्तराय कर्म** जीवकी दानादिक स्वाभाविक शक्तिको

---

१ अवलेखनी—बांसकी छालके समान वक्र होती हैं। (तत्त्वार्थ)

रोके रहता है। इसके ५ भेद हैं —

(४३) दानान्तराय दान (त्याग) करनेकी इच्छाका घात करता है।

(४४) लाभान्तराय लाभमें बाधा पहुंचाता है।

(४५) भोगान्तराय भोग्य वस्तुका भोग न करने दे। जीव विषय-भोगका प्रयत्न करता है, परन्तु इस कर्मके उदयसे भोगमार्ग कंटकमय बन जाता है। जिस विषयका एक ही बार भोग हो सकता है उसे भोग कहते हैं, यथा आहार, जल, सुखवास आदि।

(४६) उपभोगान्तराय उपभोग्य वस्तुके उपभोगमें विघ्न डालता है। जिस वस्तुका अनेक बार उपभोग हो सकता है उसे उपभोग्य कहते है, यथा वस्त्र, वाहन, आसन आदि।

(४७) वीर्यान्तराय जीवके वीर्य, सामर्थ्य अथवा शक्तिको विकसित नहीं होने देता।

घाती कर्मके ये ४७ भेद हुये। घाती कर्म जीवके स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, वीर्य आदि गुणोंको ढके रहता है। अघाती कर्म जीवके स्वाभाविक गुणोंका लोप नहीं करता। अघाती कर्म केवल शरीरसे सम्बन्ध रखता है। वेदनीय, गोत्र, आयु और नाम ये चारों अघाती कर्म हैं।

(५) वेदनीय कर्म सुख, दुःखकी कारणभूत सामग्री उत्पन्न करता है। इसके दो भेद हैं:—

(४८) सातावेदनीय सुखसाधनोंकी प्राप्तिमें सहायक होता है।

(४९) असातावेदनीय दुःखके साधनोंकी उत्पत्तिमें कारण-भूत होता है।

(६) **गोत्रकर्म** किस प्रकारके वंशमें जन्म हो, इसका आधार गोत्रकर्म है। इसके भी दो भेद है—

(५०) उच्च गोत्र—इसके प्रतापसे जीव उच्च गोत्रमें जन्म लेता है।

(५१) नीच गोत्र—इस कर्मके बलसे जीव नीच कुलमें जन्म लेता है।

(७) **आयुषकर्म**—यह कर्म जीवकी आयु निर्धारित करता है। नारकी, तिर्यंच, देव या मनुष्यका भव प्राप्त करना इस कर्मके आश्रित है। इसके चार भेद हैं—

(५२) देवायुष—इसके उदयसे जीवको देवताका आयुष-काल प्राप्त होता है।

(५३) नारकायुष—इसके उदयसे जीव नरकवासी की आयु प्राप्त करता है।

(५४) मनुष्यायुष—इस कर्मके प्रतापसे जीवको मनुष्यकी आयु मिलती है।

(५५) तिर्यगायुष—इस कर्मके कारण जीव तिर्यंच जातिकी आयु पाता है।

(८) **नामकर्म**—यह कर्म जीवकी गति, जाति शरीरादिमें कारणभूत होता है। गति, जाति, शरीरादिके भेदसे नामकर्मके कुल ९३ भेद होते हैं:—

प्रथम गतिकर्म—इससे जीवकी संसारगति निश्चित होती है। गतिके ४ प्रकार है–

(५६) नरकगति—इसके उदयसे जाव नारकी शरीर धारण करता है।

(५७) तिर्यंच गति—इसके उदयसे जीवको पशु पक्षी आदि तिर्यंच गति मिलती है।

(५८) मनुष्यगति—इसके उदयसे जीव मनुष्य—शरीर प्राप्त करता है।

(५९) देवगति—इसके उदयसे जीवको देवशरीर मिलता है।

द्वितीय जातिकर्म—यह जीवकी जाति निर्धारित करता है। जातिके पांच भेद है।

(६०) एकेन्द्रिय जाति—एकेन्द्रिय जातिकर्मके उदयसे जीव एकमात्र स्पर्शनेन्द्रिय प्राप्त करता है।

(६१) द्वि-इन्द्रिय जाति—इसके उदयसे जीव स्पर्श और रसना ये दो इन्द्रियां प्राप्त करता है।

(६२) तीन-इन्द्रिय जाति—इसके उदयसे जीव स्पर्श, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां प्राप्त करता है।

(६३) चतुरिन्द्रिय जाति—इस कर्मके उदयसे जीव स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां प्राप्त करता है।

(६४) पंचेन्द्रिय जाति—इसके उदयसे जीवको पांच इन्द्रियां प्राप्त होती है।

तीसरा शरीरकर्म—इससे जीवका शरीर निर्दिष्ट होता है। शरीरके पांच प्रकार हैं, इस लिये शरीरकर्म भी पांच प्रकारका होता है।

(६५) औदारिक शरीर—इसके उदयसे जीवको मनुष्य और तिर्यंचका स्थूल शरीर मिलता है।

(६६) वैक्रियक शरीर—जिसे छोटा या बडा किया जा सके उसे वैक्रियक शरीर कहेते है। इस कर्मके उदयसे जीव देव तथा नारकीका वैक्रियक शरीर प्राप्त करता है।

(६७) आहारक शरीर—छठे गुणस्थानवाले मुनिको यदि तत्त्वार्थ सम्बन्धी कोई शंका उत्पन्न हो तो शंकाका समाधान करनेके लिये वह, केवलज्ञानी या श्रुत-केवलीके पास भेजनेके लिये, इस कर्मके उदयसे, मस्तकमेंसे एक हाथ प्रमाणवाला शरीर उत्पन्न कर सकता है। शंका समाधान होने पर यह शरीर पुनः स्थूल शरीरमें समा जाता है।

(६८) तैजस शरीर[२]—इस कर्मके उदयसे औदारिक और

---

१ आहारक-शरीर-नामकर्म—श्वेताम्बर सिद्धान्तानुसार चौदह पूर्वधर मुनिको तत्त्वार्थ सबन्धी कोई शका उत्पन्न हो या तीर्थंकरके दर्शनकी इच्छा हो तो वह शकासमाधानके लिये या दर्शनके लिये, महाविदेह क्षेत्रमें स्थित तीर्थंकरके पास भेजनेके लिये इस कर्मके उदयसे, एक हाथ प्रमाण शरीर बनाता है। कार्य पूर्ण होने पर वह कर्पूरके समान विलीन हो जाता है।

२ तैजस-शरीर-नामकर्म—इस कर्मके उदयसे आहार पाचन हो और तेजोलेश्या छोडनेमें सहायक हो ऐसा शरीर होता है।

वैक्रियक शरीरको कान्ति देनेवाला शरीर प्राप्त होता है।

(६९) कार्मण शरीर—इसके उदयसे कर्मपुद्गलघटित कर्म-शरीर उत्पन्न होता है।

चतुर्थ अंगोपांगकर्म—इससे जीव-शरीरके अंगोपांगकी योजना होती है। तीन प्रकारके शरीरके अंगोपांगकर्म भी तीन प्रकारके होते हैः—

(७०) औदारिक—इसके उदयसे औदारिक शरीरके अंगोपांग होते है।

(७१) वैक्रियक—इसके उदयसे वैक्रियक शरीरके अंगोपांग बनते है।

(७२) आहारक—इसके उदयसे आहारक शरीरके अंगोपांग बनते है।

(७३) **पंचम निर्माणकर्म**—इस कर्मसे शरीरके अंग और उपांग यथास्थान यथा परिमाण व्यवस्थित होते है।

छठा बन्धनकर्म शरीरके औदारिक परमाणुओं (छोटेसे छोटे अंशो) को एक दूसरेके साथ यथोचित रूपसे संयुक्त करता है। शरीर पाच प्रकारका है, इस लिये बन्धनकर्म भी पांच प्रकारके होते है।

(७४) औदारिक बन्धनकर्म।

(७५) वैक्रियक बन्धनकर्म।

(७६) आहारक बन्धनकर्म।

(७७) तैजस बन्धनकर्म।

(७८) कार्मण बन्धनकर्म।

सप्तम संघातकर्म—इसके कारण शरीरका छोटेसे छोटा भाग भी परस्पर सम्बद्ध रहता है। शरीरके समान संघातकर्म भी पांच प्रकारका है—

(७९) औदारिक संघातकर्म।

(८०) वैक्रियक संघातकर्म।

(८१) आहारक संघातकर्म।

(८२) तैजस संघातकर्म।

(८३) कार्मण संघातकर्म।

अष्टम संस्थानकर्म—इससे शरीरकी आकृतिकी योजना होती है। यह कर्म छः प्रकारका होता है—

(८४) समचतुरस्रसंस्थान*—इस कर्मसे शरीर सुडौल-सुगठित होता है।

---

* **समचतुरस्र संस्थान नामकर्म**—(श्वेताम्बर मतानुसार) शरीरके आकारमें सस्थान नामकर्म कारण है। शरीरके समग्र अवयवोंके लक्षणयुक्त सुडौल होनेमें यह कर्म कारण है।

न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान—इस कर्मसे वटवृक्षके समान नाभिके ऊपरका भाग लक्षणोंसे युक्त सुडौल होता है और नाभिके नीचेका भाग लक्षण-हीन होता है।

सादि संस्थान—इस कर्मसे शाल्मली वृक्षके समान नाभिसे नीचेका भाग सुडौल और ऊपरका भाग लक्षण-रहित होता है।

कुब्ज संस्थान—इस कर्मसे मस्तक, गर्दन, हाथ, पैर सुडौल होते हैं; अन्य अवयव ऐसे नहीं होते।

वामन संस्थान—इस कर्मसे मस्तकादि उपरोक्त अवयव लक्षण-हीन और शेष अवयव सुडौल होते हैं।

(८५) न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान—इस कर्मके कारण न्यग्रोध (वट) वृक्ष जैसा शरीर बनता है। अर्थात् शरीरका नीचेका भाग छोटा–कुबडा और ऊपरका भाग बडा तथा सुडौल होता है।

(८६) स्वातिक संस्थान—इससे न्यग्रोधपरिमण्डलकी अपेक्षा अन्य ही प्रकारकी आकृति होती है।

(८७) कुब्जक संस्थान—इसके उदयसे कूबवाला शरीर मिलता है।

(८८) वामन संस्थान—इसके उदयसे छोटा (ठिंगना) शरीर मिलता है।

(८९) हुण्डक संस्थान—इसके उदयसे शरीरके अंगोपांग छोटे बडे होते है, परस्पर मेल नहीं खाते और शरीरका आकार कुरूप बनता है।

नवम संहननकर्म—इसका सबन्ध अस्थिपंजरकी रचनासे है। यह कर्म छ: प्रकारका है। वर्तमान समयमें अन्तिम तीन प्रकार ही देखे जाते है—

(९०) वज्रऋषभनाराच संहनन[1]—इसके उदयसे शरीरकी

हुंड संस्थान—इससे शरीरका प्रत्येक अवयव लक्षणहीन होता है।

१ वज्रऋषभनाराच संघयण (संहनन)—अस्थिसंघटनमें संघयण नामकर्म कारण है। जैसे दो पदार्थोंका मजबूत बंधन हो, उसके ऊपर पट्टी हो और उस पर कील लगी हो, तो इससे वह बन्धन जिस प्रकार मजबूत होता है, उसी प्रकारका मजबूत अस्थिका बन्धन (संघटन) उस कर्मसे दृढ होता है।

नाडी, ग्रन्थि और अस्थि वज्र जैसी कठिन होती है।

(९१) वज्रनाराच संहनन—इसके उदयसे केवल ग्रन्थि और अस्थि वज्र सदृश कठिन होती है।

(९२) नाराच संहनन—इसके उदयसे वज्रऋषभनाराचकी अपेक्षा दुर्वल प्रकारका संधान इत्यादि होता है।

(९३) अर्धनाराच संहनन—इसके उदयसे नाराचकी अपेक्षा दुर्वल प्रकारका सन्धान इत्यादि होता है।

(९४) कीलक संहनन—इसके उदयसे अस्थियां ग्रन्थिवाली वनती हैं।

(९५) असंप्राप्तासपाटिका—इसके उदयसे शिरासंयुक्त अस्थि वनी रहती है।

ऋषभनाराच संघयण—पट्टीके विना जैसा बन्धन होता है वैसा ही अस्थिका वन्ध (सघटन) इस कर्मसे होता है।

नाराच संघयण—पट्टी और कील रहित वन्धनके समान अस्थियोंका सघटन इस कर्मसे होता है।

अर्धनाराच संघयण—जिस प्रकार दो पदार्थोंमें एक ओर गाढ़-बन्धन हो और दूसरी ओर शिथिल हो, अस्थिका उसी प्रकारका सघटन इस कर्मसे होता है।

कीलिका संघयण—जिस प्रकार दो पदार्थोंमें दोनों ओर शिथिल बन्धन हो परन्तु कीलके समान कोई वस्तु लगी हो, उसी प्रकारका अस्थि-सघटन होनेमें यह कर्म कारणरूप है।

सेवार्त संघयण—अस्थियोंका विल्कुल शिथिल सघटन होनेमें यह कर्म कारणरूप होता है। आजकल यही संघयण देखा जाता है।

बारहवां गंधकर्म—इससे शरीरमें गंध उत्पन्न होती है। गंधकर्मके दो भेद है—

(१०९) सुगन्धकर्म—इसके उदयसे शरीर सुगंधवाला रहता है।

(११०) दुर्गन्धकर्म—इसके उदयसे शरीर दुर्गन्धवाला रहता है।

तेरहवां वर्णकर्म—इसके उदयसे शरीरका वर्ण निर्धारित होता है। वर्णकर्म पांच प्रकारका है:—

(१११) शुक्लवर्ण-कर्म—जिसके उदयसे शरीर शुक्लवर्ण होता है।

(११२) कृष्णवर्ण-कर्म—जिसके उदयसे शरीर श्यामवर्ण होता है।

(११३) नीलवर्ण-कर्म—जिसके उदयसे शरीर नीलवर्ण होता है।

(११४) रक्तवर्ण-कर्म—इसके उदयसे शरीरका वर्ण लाल होता है।

(११५) पीतवर्ण-कर्म—इसके उदयसे शरीर पीत वर्णवाला होता है।

चौदहवां आनुपूर्वी कर्म—एक भव या एक गतिमेंसे भवान्तर या गत्यन्तरके समय (विग्रहगति कालमें) इस आनुपूर्वी कर्मके अनुसार[1] जीव जिस देहको छोड़ता है उसी पूर्व देहके आकारको ग्रहण करता है।

(११६) देवगत्यानुपूर्वी कर्म।

---

१. **आनुपूर्वी नामकर्म**—इस कर्मसे भवान्तरमें जाते हुवे आकाश-प्रदेशकी श्रेणीका अनुसरण करके गति होती है।

(११७) नरकगत्यानुपूर्वी कर्म।

(११८) तिर्यग्गत्यानुपूर्वी कर्म।

(११९) मानुषगत्यानुपूर्वी कर्म।

(१२०) **पन्द्रहवां अगुरुलघु कर्म**—इस कर्मके कारण जीवका शरीर इतना अधिक भारी भी नहीं होता कि जिससे वह चलने फिरने योग्य न रहे और इतना अधिक हल्का भी नहीं होता कि जिससे वह अस्थिर रहे।

(१२१) **सोलहवां उपघात कर्म**—इसके कारण जीवके शरीरमें ऐसे अंग उत्पन्न होते है कि जिनसे उसका अपना ही घात होता है। यथा मृगशरीरके लम्बे और खूब भारी सींग इत्यादि।

(१२२) **सतरहवां पराघात कर्म**[1]—इस कर्मके कारण जीव ऐसे अंग प्रत्यंग प्राप्त करता है कि जिनसे वह दूसरों पर आक्रमण कर सकता है।

(१२३) **अठारहवां आताप कर्म**[2]—इससे जीवको ऐसा उज्ज्वल शरीर प्राप्त होता है कि दूसरे उसे देखते ही चौंधया जाते है। यथा सूर्यलोकमें ऐसे ही शरीरधारी जीव रहते है।

---

१. **पराघात नामकर्म**—इस कर्मसे महान तेजस्वी आत्मा अपने दर्शनमात्रसे और वाणीके अतिशयसे महाराजाओंकी सभाके सभ्योंको भी चकित कर देता है, अपने प्रतिस्पर्द्धीकी प्रतिभाको कुठित कर देता है।

२. **आताप नामकर्म**—इस कर्मसे प्राणियोंका शरीर शीतल होने पर भी उष्ण प्रकाशरूप ताप उत्पन्न करनेकी शक्तिवाला होता है। यह [illegible] बिम्बमें स्थित एकेन्द्रिय जीवोंका ही होता है।

(१२४) **उन्नीसवां उद्योतकर्म**[1]—इसके कारण जीवको ऐसा उज्ज्वल शरीर प्राप्त होता है कि जो समुज्ज्वल होने पर भी दूसरोंको शीतप्रकाशरूप ही मालूम होता है। उदाहरणार्थ चन्द्रलोकमें ऐसे ही शरीरधारी जीव रहते हैं।

(१२५) **बीसवां उच्छ्वासकर्म**—यह कर्म जीवकी निःश्वास-प्रश्वास-क्रियाका नियमन करता है।

इक्कीसवां विहायोगतिकर्म[2]—यह कर्म जीवको आकाशमें उड़नेकी गति देता है। इसके दो प्रकार हैः—

(१२६) शुभ विहायोगति—इससे सुन्दर गति होती है।

(१२७) अशुभ विहायोगति—इससे बेढव गति होती है।

(१२८) **बाइसवां प्रत्येक शरीरकर्म**—इस कर्मके कारण जो शरीर मिलता है उसे केवल एक ही जीव भोगता है।

(१२९) **तेइसवां साधारण शरीरकर्म**—इस कर्मके कारण जो शरीर प्राप्त होता है उसमें एक साथ कई जीव रह सकते हैं।

(१३०) **चौबीसवां त्रसकर्म**—इस कर्मसे दो इन्द्री, तीन इंद्री, चार इंद्री और पांच इन्द्रियोंवाला शरीर प्राप्त होता है।

(१३१) **पचीसवां स्थावरकर्म**—इसके कारण एकेन्द्रिय शरीर प्राप्त होता है।

---

१. **उद्योत नामकर्म**—इस कर्मसे जीवोंका शरीर शीतप्रकाशरूप उद्योत करता है।

२. **विहायोगति नामकर्म**—इस कर्मसे हस और हाथीके समान सुन्दर तथा काक एव गर्दभके समान अशुभ गति (चाल) प्राप्त होती है।

(१३२) छव्वीसवां सुभग कर्म[1]—इसके कारण सर्व-प्रिय, सर्वके स्नेहके योग्य शरीर प्राप्त होता है।

(१३३) सत्ताइसवां दुर्भग कर्म[2]—सुभगकर्मके विपरीत।

(१३४) अट्ठाइसवां सुस्वरकर्म—इससे सुन्दर स्वर प्राप्त होता है।

(१३५) उनत्तीसवां दुःस्वरकर्म—सुस्वरके विपरीत।

(१३६) तीसवां शुभ कर्म—इससे सुन्दर देह मिलती है।

(१३७) इकत्तीसवां अशुभ कर्म—शुभ कर्मके विपरीत।

(१३८) बत्तीसवां सूक्ष्मकर्म—सूक्ष्म अबाध्य शरीर मिलता है।

(१३९) तेतीसवां बादरकर्म—स्थूल देह उत्पन्न होती है।

(१४०) चौतीसवां पर्याप्तिकर्म—जीव जिस देहको प्राप्त करे वह उसके लिये उपयोगी पर्याप्ति प्राप्त करे। जैनाचार्योंने छ पर्याप्ति मानी हैं—(१) आहारपर्याप्ति, (२) शरीरपर्याप्ति, (३) इन्द्रिय-पर्याप्ति, (४) प्राणापानपर्याप्ति, (५) भाषापर्याप्ति और (६) मन·पर्याप्ति। पहिली शरीर-पोषणके लिये आहार-द्रव्य ग्रहण करनेमें उपयोगी है। दूसरी शरीरका पोषण करनेमें। तीसरी इन्द्रियादिका पोषण करनेमें। चौथी स्वासोच्छ्वासमें, पांचवीं बोलनेमें और छठीं संकल्पादिमें उपयोगी है। एकेन्द्रिय जीव प्रथम चार प्रकारकी पर्याप्तिके अधिकारी हो सकते है। दो इन्द्री, तीन इन्द्री, चार इन्द्री और मनरहित—अमनस्क ५ इन्द्रियोंवाले जीव पहिली ५ पर्याप्तिके अधिकारी

---

१. सौभाग्य नामकर्म—इस कर्मसे सर्वजनप्रियता प्राप्त होती है।

२. दुर्भाग्य नामकर्म—इस कर्मसे सर्वजन-अप्रियता प्राप्त होती है।

होते हैं। संज्ञी—मनवाला पंचेन्द्रिय प्राणी छओं छः पर्याप्तिका अधिकारी होता है।

(१४१) पैंतीसवां अपर्याप्तिकर्म—इस कर्मके कारण [स्व-योग्य] पर्याप्ति मिले विना ही देही मृत्युके मुखमें चला जाता है।

(१४२) छत्तीसवां स्थिर कर्म[1]—इसके कारण शरीरकी धातु, उपधातुएं नियमित रहती है। जैन मंतव्यके अनुसार धातु सात है: रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र। उपधातुएं भी इतनी ही है: वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, त्वचा और उदराग्नि।

(१४३) सैंतीसवां अस्थिर[2] कर्म—स्थिर कर्मसे विपरीत कार्य करता है।

(१४४) अड़तीसवां आदेयकर्म[3]—देहमें उज्ज्वलता लाता है।

(१४५) उनतालीसवां अनादेय[4]कर्म—आदेयसे विपरीत।

(१४६) चालीसवां यशःकीर्ति[5]कर्म—ऐसा शरीर उत्पन्न करता है कि जिससे यश और कीर्ति मिले।

(१४७) इकतालीसवां अयशः कीर्तिकर्म[6]—यशःकीर्ति कर्मसे उल्टा।

---

१ स्थिर नामकर्म—इस कर्मसे हड्डियें, दात आदि स्थिर रहते हैं। (मु. श्री. दर्शनविजयजी)

२ अस्थिर नामकर्म—इस कर्मसे जीभ कान आदि अस्थिर रहते हैं। (मु. श्री. दर्शनविजयजी)

३ आदेयनामकर्म—इस कर्मसे लोकमान्यता प्राप्त होती है।

४ अनादेयनामकर्म—इस कर्मसे लोकमान्य नहीं बना जा सकता।

५ यशःकीर्ति—इस कर्मसे सब ओर यश और कीर्ति फैलती है।

६ अयशःकीर्ति—इस कर्मसे अपयश और अपकीर्ति होती है।

(१४८) बयालीसवां तीर्थंकरकर्म—इससे तीर्थंकरत्व प्राप्त होता है।

कर्मके दो भेद: घाती और अघाती। घाती कर्ममें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चारका समावेश होता है। मतिज्ञानावरणीय आदि अवान्तर भेदोंकी गणना करनेसे ४७ भेद होते है। अघातीके भी चार भेद हैं: वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष। सातावेदनीय आदि भेदोके हिसावसे अघाती कर्मके १०१ भेद है। सारांशतः कर्मके प्रकार, प्रकृति अथवा भेद सब मिलकर १४८ प्रकार हो जाते है।

कर्मकी स्थिति

जीव पदार्थको लगे हुवे कर्मके क्षय होनेका नाम निर्जरा है। निर्जराके अविपाक और सविपाक नामक दो भेद है। कर्मपुद्गलके फल देनेके लिये तैयार होनेसे पूर्व ही कठोर तपश्चर्यादिसे उसका क्षय कर देनेका नाम अविपाक निर्जरा है। यदि तपश्चर्यादिकी सहायतासे इस कर्मको क्षीण न कर दिया जाय तो वह जीवके साथ मिलकर, विविध फलोंका भोग कराता है और उसकी निश्चित मुद्दत पूरी होने पर जीवका त्याग कर देता है। इसका नाम सविपाक निर्जरा है।

जिस संसारी जीवको अविपाक निर्जरा नहीं, किन्तु सविपाक निर्जरा भुगतनी पड़ती है उसके साथ कौनसा कर्म कितने समय रहता है, इसका माप भी जैन शास्त्रोंने निकाला है। आचार्य इसे "स्थिति-बन्ध" अर्थात् कर्मका स्थितिकाल कहते है। स्थिति दो प्रकारकी है—(१) परा स्थिति (Maximum duration) और (२) अपरास्थिति।

आठ प्रकारके कर्मोंका परास्थितिकाल और अपरास्थितिकाल जैनागमके अनुसार नीचे उद्धृत किया जाता है:—

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी परा स्थिति—उत्कृष्ट स्थिति (त्रिंशत्) तीस कोटाकोटी सागरोपम है।

मोहनीय कर्मकी परा स्थिति (सप्तति) ७० कोटाकोटी सागरोपम है।

नाम तथा गोत्र कर्मकी परा स्थिति (विंशति) २० कोटाकोटी सागरोपम है।

आयुपकर्मकी परा स्थिति (तयस्त्रिंशत) ३३ सागरोपम है।

एक योजन व्यास (Diameter) वाला और एक योजन गहरा कुंवा खोदा जाय। उसका घेरा लगभग $३\frac{१}{६}$ योजन होगा। इस कुंवेमें उत्कृष्ट भूमिमें उत्पन्न, सात दिनके मेंड़के वालोंके छोटेसे छोटे अंश ठूंस ठूंस कर भरे हों, और सौ सौ वरस बाद उस कुंवेसे एक एक बाल निकाला जाय, और इस प्रकार एक एक बाल निकालनेसे जितने समयमें कुंवा खाली होगा वह एक 'व्यवहारपल्य' कहलायगा। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि ४१३०५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९२०००००००००००००००००००० वर्षका एक व्यवहारपल्य होता है। असंख्य व्यवहारपल्यका एक 'उद्धारपल्य' और असंख्य उद्धारपल्यका एक 'अद्धापल्य' होता है। १० कोटाकोटी अद्धापल्यका एक सागरोपम होता है।

यह उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन हुवा। अब अपरा अर्थात् जघन्य स्थिति लीजिये—

वेदनीय कर्मकी अपरा स्थिति १२ मुहूर्त है।
नाम और गोत्र कर्मकी अपरा स्थिति ८ मुहूर्त है।
शेष कर्मोंकी अपरा स्थिति १ अन्तर्मुहूर्त है।

एक आकाश प्रदेशमेंसे पासवाले ही दूसरे आकाश प्रदेशमें मन्द गतिसे जानेमें एक परमाणुको जितना समय लगता है उसका नाम **समय** है। असंख्य समयकी एक आवली अर्थात् निमेषकाल होता है। अन्तर्मुहूर्तके दो प्रकार है— एक जघन्य और दूसरा उत्कृष्ट। एक आवली+एक समय=एक "जघन्य अन्तर्मुहूर्त[१]"। १ मुहूर्तकी ४८ मिनिट होती है। १ मुहूर्त–१ समय=(एक समय कम करनेसे) एक "उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त"। जैन शास्त्रमें मुहूर्त तथा अन्तर्मुहूर्तका दो अर्थोंमें वर्णन है।

कर्मका अनुभाग

कर्मके आस्रवसे जीवको बन्ध होता है। फलकी तीव्रता या मन्दताके हिसाबसे कर्मबन्ध भी तीव्र और मन्द गिना जा सकता है। कर्मके अनुभाग-बन्ध-के साथ फलकी तीव्रता और मन्दताका अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। अनुभाग-बन्धका अर्थ फल देनेकी शक्ति भी हो सकता है। अनुभाग-बन्धको कभी कभी अनुभव [रस] भी कहा जाता है।

---

१ ९ समयसे अधिक काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, और ४८ मिनिटसे एक समय कम जितना काल उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त समझना। और पूरी ४८ मिनिटका एक मुहूर्त होता है।

(मु श्री. दर्शनविजयजी)

कर्मका प्रदेशबन्ध

आकाशका जो छोटेसे छोटा अंश एक परमाणुसे व्याप्त रहता है उसे प्रदेश कहते है। जैनाचार्य कहते है कि लोकाकाशके ऐसे एक प्रदेशमें एक साथ एक पुद्गल परमाणु, एक धर्मद्रव्यका प्रदेश, एक अधर्म द्रव्यका प्रदेश, कालका एक छोटेसे छोटा अणु और जीव प्रदेश रह सकता है। कर्म-पुद्गल और जीव-द्रव्य इस प्रकार संमिश्रित रहते है। अनादि कालसे जीव बद्धकर्म है। यह जिनसिद्धान्त है। स्पष्ट शब्दोंमें कहे तो कर्मपुद्गल जीवद्रव्यके साथ जीवके हर एक प्रदेशमें संमिश्रित होकर उसे (जीवको) बद्ध अवस्थामें रखता है; जीवके विशुद्ध ज्ञान-दर्शनादि निर्मल गुणोंको ढक देता है। यही कारण है कि जीव अनादि कालसे दु:ख-मोहमय इस संसारमें परिभ्रमण करता है। इसीका नाम प्रदेशबन्ध है

चार प्रकारके बन्ध होनेसे, कर्मके भी चार प्रकार कहे गये हैं। अब आठ प्रकारके कर्मके आश्रव-कारण और कर्मके विपाकके बारेमें विचार करना चाहिये—

कर्मके आश्रव-कारण

ऊपर कहा गया है कि, जीवके विभावके कारण जीवमें कर्मका आस्रव होता है—कर्मका आगमन होता है। (कर्मके आश्रवके पश्चात् जो आश्रवित कर्म जीव-प्रदेशके एक क्षेत्रमें अवगाहना करता है—एकत्र रूपेण रहता है उसे बन्ध अथवा कर्मबन्ध कहा जाता है।) किस प्रकारके विभावसे जीवमे किस प्रकारका आश्रव होता है, यह बात यहां संक्षेपमें कह देता हूं—

जैन दार्शनिक कहते है कि प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना (आशातना) और उपघात, ये ज्ञानावरणीय और दर्शनावर्णीय कर्मके आश्रवमें कारगभूत हैं। शंका-समाधानके पश्चात् भी शास्त्रमें अश्रद्धा रहनेका नाम प्रदोष है। ज्ञानके गोपनको निह्नव कहते है। हिंसा, द्वेष या ईर्ष्याके कारण ज्ञान देनेमे संकोच करना मात्सर्य कहलाता है। ज्ञानोन्नतिके मार्गमें विघ्न डालनेका नाम अन्तराय है। कार्यसे या वाक्यसे अन्य-प्रदर्शित सन्मार्गका अपलाप करना आसादना है। सत्यको सत्यरूप जानते हुवे भी अतत्त्वरूपसे उसकी स्थापना करना उपघात कहलाता है। जो जीव उक्त प्रदोषादि दोषोंसे दूषित होता है उनके विषयमें जैनाचार्य कहते है कि उस जीवमें ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मका आश्रव होता है। परिणामत' उस जीवके ज्ञान और दर्शन ढके हुवे रहते है। इसी प्रकार दु ख, शोक, आक्रन्द, वध, ताप और परिवेदना ये पूर्वोक्त असातावेदनीय कर्मके आश्रवमे निमित्तकारण है। दु'खका अर्थ कष्ट, शोकका अर्थ प्रिय-वियोगका क्लेश, और अनुशोचना या अनुतापका अर्थ संताप है। आंखसे आंसू निकालनेको आक्रान्द कहते है। प्राणहिंसाका नाम वध है। जिससे दूसरेके हृदयमें दया उत्पन्न हो जाय ऐसा आक्रन्द करना या शोक प्रकट करना परिवेदना है। दु:खादि छ प्रकारके विभावका अनुभावक अपनेमें जैसा अनुभव करता है वैसा ही अन्योंको भी अनुभव करावे अथवा स्वयं भी अनुभव करे और अन्योंको भी अनुभव करावे। इस प्रकार दु खादि ६ विभाव अठारह भेदोंमें परिणमित होते है। जैनाचार्य कहते है कि इन १८ प्रकारके विभावके कारण असातावेदनीय कर्मका

आश्रव होता है। भूतानुकंपा, व्रतानुकंपा, दान, सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप, योग, क्षान्ति और शौच, ये दस सातावेदनीय कर्मके आश्रव-कारण हैं; जो सुखपूर्व वेदा जा सके ऐसे कर्मका इससे आश्रव होता है। सर्व प्राणियोंके प्रति करुणा होनेका नाम भूतानुकंपा है। व्रतधारी साधुओंके प्रति अनुकंपा होना व्रतानुकंपा है। रागमिश्रित संयमका नाम सरागसंयम है। व्रतका पालन करते हुवे जो कुछ कषायोंका नियमन होता है वह संयमासंयम है। अविचलित रूपसे कर्मके निर्दिष्ट फलोंको भोग लेनेका नाम अकामनिर्जरा है। सम्यग्ज्ञानके साथ जिसका जरा भी सम्बन्ध न हो वह बालतप कहलाता है। चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहते हैं। अपराधीको क्षमा करना क्षान्ति है। पवित्रता-शुचिताका नाम शौच है। अवर्णवाद दर्शनमोहनीयका आश्रव-कारण है। सर्वज्ञ भगवानकी, विशुद्ध आगमकी, संघकी, सत्य धर्मकी, और देवकी निंदाको अवर्णवाद कहते है। इस अवर्णवादसे जीवमें दर्शन-मोहनीय कर्म प्रविष्ट होता है।

कषाय और नो-कषायकी प्रकृति तथा भेद ऊपर कहे जा चुके है। जैनाचार्य कहते है कि, कषाय और नो-कषायके उदयसे जीवमें जो तीव्र विभाव उत्पन्न होता है उससे जीव चारित्रमोहनीय कर्म बांधता है। बहुत अधिक आरंभ और बहुत अधिक परिग्रहके कारण जीव नरककी आयु बांधता है — नरकायु कर्मका आश्रव होता है। सांसारिक व्यापारोंमें लिप्त रहनेको आरम्भ और विषयतृष्णाके कारण विषयोंके भोगको परिग्रह कहते है। इन विषयोंमें तल्लीन होकर जो जीव अहिंसा-दिको भूल जाता है वह नरकायुः बांधता है। माया अर्थात् ठगबाजी

तिर्यन आयु कर्ममें कारणभूत है। अल्पारम्भ और अल्प परिग्रहसे जीव मनुष्यायु: बांधता है। मृदुतासे भी जीव मनुष्यआयुः बांधता है। इसी प्रकारके चारों गतिके आश्रवमें अशील और अव्रत मुख्य हैं। सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप देव-आयु-कर्मके आश्रवमें कारणभूत हैं। सम्यग्ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दर्शी भी देवताकी आयु उपार्जित करता है।

और गुणानुवाद आदिसे जीवमें शुभ कर्मोंका आश्रव होता है। दर्शन-विशुद्धि, विनयसंपन्नता, अतिचार रहित शीलव्रत, ज्ञानोपयोग, संवेग, यथाशक्ति त्याग, तप, साधुभक्ति, वैयावृत्य, अरिहंतकी भक्ति, आचार्यकी भक्ति, बहुश्रुतकी भक्ति, प्रवचनकी भक्ति, आवश्यक अपरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवात्सल्य; इन १६ प्रकारकी शुभ भावनाओंसे जीवमें तीर्थंकर नामकर्मका आश्रव होता है।

(१) विशुद्ध सम्यग्दर्शनका नाम दर्शनविशुद्धि है। इसके आठ भेद है—निःशंकित—विशुद्ध दर्शनमें कुछ शंका न करना। निःकांक्षित—धर्मके अतिरिक्त किसी बातकी आकांक्षा न करना। निर्विचिकित्सित—धर्मक्रियामें कुछ भी घृणा न रखना। अमूढदृष्टि—शुद्ध दर्शनके विषयमें लेशमात्र भी कुसंस्कार न रखना। उपबृंहण—सम्यग्दृष्टि कभी दूसरेका दोष नहीं देखता। स्थिरीकरण—सत्यमें अविचलित रहना, यह सम्यग्दृष्टिका एक अंग है। वात्सल्य—सम्यग्दृष्टिवाला सदैव मुक्तिमार्गके पथिकोंकी और स्नेह, श्रद्धासे देखता है। प्रभावना—मोक्षमार्गका प्रचार यह सम्यग्दर्शनका एक लक्षण है। (२) मुक्तिके साधन तथा मुक्तिके मार्ग पर चलनेवाले साधुओंकी भक्तिको विनयसंपन्नता कहते हैं। (३) पांच महाव्रतका परिपालन। (४) आलस्य रहित होकर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनेका नाम ज्ञानोपयोग है। (५) संसारमें दुःख देखना संवेग कहलाता है। (६) शक्तिके अनुसार त्याग करना यथाशक्ति त्याग है। (७) शक्त्यनुसार तप करना यथाशक्ति तप है। (८) साधुओंकी सेवा, रक्षा और अभयदान आदिको साधुभक्ति कहते हैं। (९) धार्मिकोंकी सेवा वैयावृत्य कहलाती है। (१०) सर्वज्ञ अरिहंत

भगवानमें अचल श्रद्धा रखनेका नाम अर्हद्भक्ति है। (११) साधुसंघके नेता आचार्य, इनकी भक्ति करनेको आचार्य-भक्ति कहते हैं। (१२) धर्मका बोध करानेवालेको उपाध्याय और उपाध्यायकी भक्तिको उपाध्याय-भक्ति अथवा बहुश्रुत-भक्ति कहते हैं। (१३) शास्त्र संबन्धी श्रद्धाका नाम प्रवचनभक्ति है। (१४) सामायिक, व्रत, पचखाण आदि दैनिक धर्म-कार्यके अनुष्ठानको आवश्यक-अपरिहानि कहते हैं। (१५) प्रभावनाका अर्थ है मुक्तिमार्गका प्रचार करना। (१६) मुक्तिमार्गमें विचरण करनेवाले साधुओंके प्रति स्नेहभाव रखनेको प्रवचन-वात्सल्य कहते हैं।

परनिंदा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणाच्छादन और असद्गुणोद्भावनासे जीव नीच गोत्रकर्म बांधता है। अन्यकी निंदाको परनिंदा, अपनी प्रशंसाको आत्मप्रशंसा, अन्योंके सद्गुणोंको छुपाना सद्गुणाच्छादन और नहीं होने हुवे गुणोंके आरोपण करनेको असद्गुणोद्भावन कहते हैं। परप्रशंसा, आत्मनिंदा, सद्गुणोद्भावन, असद्गुणाच्छादन, नीचैर्वृत्ति और अनुत्सेक, उच्च गोत्रकर्मके आस्रव कारण है। अन्योंको प्रशंसाको परप्रशंसा, अपनी निन्दाको आत्मनिन्दा, अन्योंके सद्गुणोंके कथन करनेको सद्गुणोद्भावन और अपने गुण छुपानेको असद्गुणाच्छादन कहते हैं। गुरुजनोंकी विनयका नाम नीचैर्वृत्ति है और अपने उत्तम कार्योंके गर्व न करनेका नाम अनुत्सेक है।

अन्योंको दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यमें विघ्न उपस्थित करनेसे अन्तरायकर्म बंधते हैं। अर्थात् कोई दान करता हो, कोई लाभ उठाता हो, कोई अन्नादि वस्तुका भोग करता हो, कोई चित्रादि वस्तुका उपभोग करता हो, कोई अपनी शक्ति—वीर्य विकसित करता हो, इन

कार्योंमें विघ्न डाला जावे तो उसे तत्तद्विषयक विघ्न डालना कहेंगे। ऐसे विघ्न डालनेसे जीव अन्तराय कर्मके आश्रव-कारण उत्पन्न करता है।

कर्मका विपाक

कर्मके आश्रवसे जीवके ज्ञान-दर्शन आदि शुद्ध गुण ढक जाते है और जीव विविध प्रकारके संताप तथा दुःख भोगता हुवा संसारमें—जन्मजन्मान्तरोंमें परिभ्रमण करता है। किस कर्मका विपाक किस प्रकारका होगा अथवा किस कर्मका क्या फल मिलेगा यह वात कर्मके लक्षणसे ही समझी जा सकती है। ज्ञानावरणीय कर्मके बन्धसे जीवका शुद्ध ज्ञान आवृत होता है। दर्शनावर्णीय कर्म जीवकी दर्शन-शक्तिको ढक देता है। और जीवके शुद्ध गुण ढक जाने पर उसे वन्ध, दुःख, शोक, सन्ताप, जन्म, जरा, मृत्यु, क्षोभ आदि संसारकी अवर्णनीय ज्वालाओंमेंसे गुज़रना पड़ता है। इन ज्वालाओंका किसे अनुभव नहीं है?

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये रत्नत्रय हैं। ये ही मोक्ष-मार्गके प्रदर्शक है। परन्तु कर्मका प्रताप इतना प्रवल है कि जीव अहर्निश संसारकी ज्वालमें जलता हुवा भी मोक्षमार्गमें गति नहीं कर सकता। कितनी वार तो मोक्षमार्गके यात्री भी कर्मप्रावल्यसे पुनः पथभ्रष्ट हो जाते हैं और संसारस्वन्धनोंमें फंस जाते है। कर्मवन्धन जितने कठोर हैं, यह मोक्षमार्ग भी उतना ही कठिन है।

जन्म जन्मान्तरके सुकृतके वलसे जो भव्य जीव मोक्षमार्ग पर जानेके लिये तैयार होता है उसे क्रमशः १४ भूमिकाएं पार करनी पड़ती है, १४ अवस्थाओंसे गुज़रना होता है। जैन शास्त्रमें इन्हे "१४ गुणस्थानक" कहा गया है। यहां मै गुणस्थानका वर्णन नहीं करूंगा।

कर्मकी महिमा इतनी विचित्र है कि वह मोक्षमार्गकी साधनामें भी अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित कर देता है। सच्चा धीर, दृढ़चित्त, सहनशील साधक मोक्षमार्गके इन कण्टकोंको—दुःसह कर्मविपाकको—अविचलित रूपसे वेदता हुवा उस पार चला जाता है। जैनाचार्य इसे परिसह नाम देते हैं। परिसहका जय किये विना मोक्ष नहीं मिल सकता।

परिसह २२ प्रकारके हैं—(१) क्षुधा, (२) पिपासा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंशमशक, (६) अचेल, (७) अरति, (८) स्त्री, (९) चर्या, (१०) नैषेधिकी, (११) शय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृणस्पर्श, (१८) मल, (१९) सत्कार, (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान और (२२) सम्यक्त्व-परिसह।

जो साधक मोक्षको साधना चाहता है उसे इन २२ परिसहों पर विजय प्राप्त करनी चाहिये—इन्हें जीतना चाहिये। उसे भूख, प्यास, सरदी, धूप और मच्छर-डांसका दंश सहना चाहिये। वह चाहे जैसे जीर्ण और तुच्छ वस्त्रसे काम चला लेता है, मूल्यवान वस्त्रकी अपेक्षा नहीं रखता। कष्ट सहन करने पर भी उसे संयममें अरुचि नहीं होती। स्त्रीके रूप, शृंगार या हावभावसे वह विचलित नहीं होता। मार्ग चाहे जितना लम्बा क्यों न हो, सच्चा साधक थककर या घबरा-कर पीछे नहीं लौटता। ध्यानके समय सांप या सिंहका उपसर्ग हो तो भी वह स्थिर रहता है—आसनका परित्याग नहीं करता। वह कठोर भूमि पर सोता है। कोई गाली देता है—कठोर वचन सुनाता है तो वह सहन कर लेता है। कोई ताड़न करता है तो भी समभाव-

पूर्वक सह लेता है। किसी वस्तुकी आवश्यकता होने पर उसकी याचना करता है, परन्तु न मिले तो क्लेश नहीं धरता। ज्वर–अतिसार जैसे रोग हो जायं तो भी उद्विग्न नहीं होता। शरीरमें कांटा लग जाय तों दुःख प्रकट नहीं करता। शरीरकी मलिनताको सह लेता है। माना-पमानको समान समझता है। ज्ञानके गर्वको छोड़ देता है। अपनी अज्ञानताका भी खेद नहीं करता। अखंड साधना करते हुवे दैवी शक्ति प्राप्त न हो तो भी मोक्षमार्ग संबन्धी श्रद्धामें शंकाका प्रवेश नहीं होने देता। इस प्रकार मैंने २२ परिसहोंका संक्षिप्त वर्णन किया है। परि-सहको जीतनेसे कठिन मोक्षमार्ग सुलभ बनता है।

मुक्तिमार्गमें कण्टक स्वरूप इन परिसहोंका मूल कहां है? कर्म-बंध ही इनका मूल कारण है। ज्ञानावरणीय कर्ममेंसे प्रज्ञा और अज्ञान उत्पन्न होता है। दर्शनमोहनीय कर्ममेंसे अदर्शन परिसह उत्पन्न होता है। अन्तराय कर्ममेंसे अलाभ परिसहका जन्म होता है। अचेलक, अरति, स्त्री, नैषेधिकी, आक्रोश, याचना, सत्कार–पुरस्कारके मूलमें चारित्रमोहनीय कर्म है। शेष परिसह वेदनीय कर्मके विपाक है।

कर्मका विपाक किसीको भी नहीं छोड़ता; जीवके पीछे ही पड़ा रहता है। जो साधक अभी १४ वे गुणस्थान पर नहीं पहुंचे उन्हें भिन्न भिन्न परिसह होने सम्भव है। जिन्हें संपराय — कषायोंकी विशेष संभावना —हो वे 'वादर संपराय' माने जाते है। जैनाचार्य कहते है कि वादर संप-राय साधकको इन २२ परिसहोंके होनेकी संभावना है। जिन साधकोंको अति अल्प मात्रामें लोभ-कषाय शेष रह गया है और बाकी सब कषाय नष्ट हो गये हैं वे "सूक्ष्म संपराय" माने जाते है। वे दशम गुणस्थान

पर आरूढ होते हैं। जिनका चारित्रमोहनीय कर्म उपशान्त हो गया है वे उपशान्तमोह–ग्यारहवें–गुणस्थानमें होते हैं। जिनका मोह सर्वथा नष्ट हो चुका है वे क्षीणमोह अर्थात् बारहवें गुणस्थानमे विराजमान होते है। तथापि कर्मका परिवल ऐसा है कि इन सूक्ष्म-संपराय, उपशांत-मोह और क्षीणमोह साधकोंको भी अचेल, अरति, स्त्री, नैषेधिकी, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार और अदर्शनके अतिरिक्त शेष १४ प्रकारके परिसह सहन करने पड़ते हैं। जो पुरुषप्रवर चार प्रकारके घाती कर्मका समूलोच्छेद करके निर्मल केवलज्ञानका अधिकारी होता है वह 'जिन' अथवा अर्हत–सर्वज्ञ अर्हत–१३वें गुणस्थान पर पहुंच जाता है। जैन शास्त्र उन्हे "ईश्वर"के नामसे भी पुकारते हैं। ऐसे महापुरुषको भी भूख, प्यास, ठंड, धूप, दंशमशक, चर्या, शैय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ११ परिसह व्यक्त रूपसे नहीं तो अव्यक्त रूपसे (नाम-मात्रको) रहते है।

केवल सिद्धके जीव ही परिसहसे दूर हैं। इन्हें कर्म स्पर्श नहीं कर सकता। लोकाकाशकी उच्चतम सीमा पर निर्मल सिद्ध शिला है। इस शान्तिमय स्थानमें रहकर सिद्ध अनन्त चतुष्टयमें रमण करते हैं, अनंतकाल तक रहते हैं। वहां न कर्म है, न बंध है, न संसार है और न परिसह है।

यहां मैंने कर्मका जो जैनागमसंमत विवरण दिया है वह शायद कुछ लोगोंको नीरस प्रतीत होगा। यह नीरस भले मालूम हो, पर जैनोंके कर्मसिद्धांतके मूल सूत्रोंके साथ किसी भी भारतीय दर्शनको मतभेद हो ऐसा प्रतीत नहीं होगा। रागद्वेषादि विभावोंके कारण जीव

कर्ममें लिप्त होता है। कर्मसे ही जीव बंधता है। कर्म ही संसारका मूल है। कर्म ही जीवकी प्रकृति और सांसारिक घटनाओंकी रचना करता है। कर्मका अभाव नैष्कर्म्य अथवा मुक्ति है। परामुक्ति प्राप्त होने तक जीवके साथ कर्मविपाक लगा ही रहेगा। जैन दर्शनमें इन सब तत्त्वों पर खूब विचार किया गया है और भारतके सभी प्राचीन दर्शनोंने उसे स्वीकार किया है। बौद्ध दर्शनने भी उसकी प्रामाणिकता मानी है। कर्मवाद भारतीय दर्शनोंकी एक विशिष्टता है। जैन दर्शनमें कर्मतत्त्वकी जो विस्तृत आलोचना मिलती है, उससे इतना तो मालूम होता है कि गौतमबुद्ध और भगवान महावीरके पूर्व—शताब्दियों पहिले, भूतकालके स्मरणातीत युगमें, भारतवर्षमें अन्य दर्शनोंके समान जैन दर्शनने भी अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की होगी।

जैन दर्शनमें धर्म और अधर्म तत्त्व

[धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय सम्बन्धी यह लेख श्री भट्टाचार्यजीने वगीय साहित्य परिषद् पत्रिका पु. ३४ अक २ में प्रकाशित किया था। इसमें अनेक विरोधी दलीलोंकी समीक्षा की है एवं तर्कसे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके स्वतन्त्र अस्तित्वकी स्थापना करनेका प्रयत्न किया है। उस लेखका अनुवाद, गुजरात महाविद्यालयके अध्यापक श्री नगीनदास पारेखने जैन साहित्य सशोधकमें छपाया था, जो यहा उद्धृत किया जाता है।

—श्री सुशील]

(१)

धर्म

साधारणतः धर्म शब्दका अर्थ पुण्यकर्म अथवा पुण्यकर्म-समूह होता है। भारतीय वेदमार्गानुयायी दर्शनोंमें कहीं कहीं धर्मशब्दमें नैतिकके अतिरिक्त अर्थका आरोपण भी किया गया है। ऐसे सभी स्थानोंमें धर्मशब्दका अर्थ वस्तुकी प्रकृति, स्वभाव या गुण होता है। बौद्ध दर्शनमे भी धर्मशब्दका प्रयोग नैतिक अर्थमें प्रयुक्त मिलता है; किन्तु बहुतसे स्थानोंमे 'कार्यकारणशृङ्खला,' 'अनित्यता,' आदि किसी विश्वनियम या वस्तुधर्मको प्रकट करनेमे भी इसका प्रयोग हुवा है। परन्तु जैन दर्शनको छोडकर अन्य किसी भी दर्शनमें धर्मको एक अजीव पदार्थरूप नहीं माना गया।

नैतिक अर्थके अतिरिक्त एक नये ही अर्थमें धर्म शब्दका प्रयोग केवल जैन दर्शनमें ही देखा जाता है। जैन दर्शनानुसार 'धर्म' एक अजीव पदार्थ है। काल, अधर्म और आकाशके समान धर्म एक अमूर्त द्रव्य है। यह लोकाकाशमें सर्वत्र व्याप्त है। और इसके 'प्रदेश' असंख्य हैं। पांच 'अस्तिकाय' में धर्म भी एक है। यह 'अपौद्गलिक' (Immaterial) और नित्य है। धर्म-पदार्थ पूर्णतः 'निष्क्रिय' है और अलोकमें उसका अस्तित्व नहीं है।

जैन दर्शनमें धर्मको 'गतिकारण' कहा जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि धर्म वस्तुओंको चलाता है; वह तो निष्क्रिय पदार्थ है। तब उसे 'गतिकारण' कैसे मान सकते है? धर्म प्रत्येक पदार्थकी गतिके विषयमें 'वहिरंग हेतु' अथवा 'उदासीन हेतु' है। वह गति करनेमें पदार्थको केवल सहायता करता है। जीव अथवा कोई भी पुद्गल-द्रव्य स्वयमेव ही गतिमान होता है; वास्तवमें धर्म इन्हें किसी प्रकार भी नहीं चलाता; तो भी वह धर्म गतिमें सहायक होता है और धर्मके कारण पदार्थोंकी गति एक प्रकारसे संभवित होती है। द्रव्य-संग्रहकार कहते है: "जल जिस प्रकार गतिमान मत्स्यकी गतिमें सहायक है उसी प्रकार धर्म गतिमान जीव अथवा पुद्गल-द्रव्यकी गतिमें सहायक है। वह गतिहीन पदार्थको नहीं चलाता।" कुन्दकुन्दाचार्य और अन्य जैन दार्शनिक भी इस विषयमें जल और गतिशील मत्स्यका दृष्टान्त देते हैं। "जल जिस प्रकार गतिशील मत्स्यके गमनमें सहायता देता है उसी प्रकार धर्म भी जीव और पुद्गलकी गतिमें सहायक है" (९२ पंचास्तिकाय, समयसार)। तत्त्वार्थसारके कर्ता कहते हैं कि,

"जो समस्त पदार्थ स्वयमेव गतिमान होते है, उनकी गतिमें धर्म सहायता देता है। जिस प्रकार गमन करनेके समय मत्स्य जलकी सहायता लेता है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल-द्रव्य भी गतिमें धर्मकी सहायता ग्रहण करते है।" वस्तुओंके गतिकार्यमे धर्मके अमुल्य हेतुत्व और निष्क्रियत्वका समर्थन ब्रह्मदेव निम्न दृष्टान्तपूर्वक करते है। सिद्ध पूर्णत. मुक्त जीव है। उनके साथ संसारका कोई संबन्ध नहीं है। वे पृथ्वीके किसी भी जीवके उपकारक नहीं है। वे पृथ्वीके किसी भी जीवसे उपकृत नहीं होते। वे किसी भी जीवको मुक्तिमार्ग पर नहीं ले जाते। तथापि कोई भी भक्तिपूर्वक सिद्ध पुरुषकी भावना करे, यह विचार करके देखे कि, अनन्त ज्ञानादि विषयोंमें स्वभावतः वह भी सिद्धके समान ही है तो वह जीव भी धीरे धीरे सिद्धत्वप्राप्तिके मार्गमें आगे बढता है। यहां स्पष्ट है कि वास्तवमें तो जीव स्वयं ही मोक्ष-मार्गका मुसाफिर बना है, फिर भी इस बातसे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि सिद्ध पुरुष भी उसकी मुक्तिका कारण है। वास्तविक दृष्टिसे अथवा किसी प्रकार भी वस्तुओंको न चलाते हुवे भी ठीक इसी प्रकार धर्म उनकी गतिमें कारण अथवा हेतु है।

लोकाकाशके बाहर धर्मतत्त्वका अस्तित्व नहीं है। इसी लिए स्वभावतः ऊर्ध्वगति होने पर भी मुक्त जीव लोकाग्र पर स्थित सिद्ध शिला पर ही रह जाते है और उससे ऊपर अलोक नामक अनन्त महाशून्य आकाशमें नहीं विचर सकते। लोकाकाश और अलोकाकाशकी भिन्नताके समस्त कारणोंमें एक यह भी है कि लोकमें धर्मकी अवस्थिति है। विश्वमें वस्तुओंकी स्थिति और विश्ववस्तुओंकी नियमाधीनता गतिसापेक्ष है।

अत एव कह सकते है कि, धर्मके कारण ही लोकाकाश अथवा नियमबद्धविश्वका होना संभव हुवा है। ऐसा होते हुए भी यहां पर यह बात याद रखनी चाहिये कि, धर्म गतिमें सहायक कारण के सिवा और कुछ नहा है। पदार्थ स्वयमेव ही गतिमान अथवा स्थितिशील होते है और किसी भी स्थितिशील पदार्थको धर्म चला नहीं सकता। यही कारण है कि विश्वके पदार्थ निरन्तर चलते फिरते दिखलाई नहीं देते। यह कहा जा सकता है कि विश्वमें जो नियम अथवा शृङ्खला (व्यवस्था) प्रतिष्ठित हो रहे है उनका एक कारण है।

अध्यापक शीलके मतानुसार धर्म गतिका सहायक कारण तो है ही, पर वह "इससे भी कुछ और अधिक है"। वे कहते हैं— "वह इसके अतिरिक्त कुछ और भी है, वह नियमबद्ध गतिपरंपरा (System of movements) का कारक अथवा कारण है, जीव और पुद्गलकी गतिमें जो शृंखला (Order) वर्तमान है उसका कारण धर्म ही है।" उनके मतानुसार धर्म, लाइब्नीट्स प्रतिपादित प्रथमसे नियत व्यवस्था (Pre-established harmony) से कुछ कुछ मिलता जुलता ही है। प्रभाचन्द्रकी "सकृद्गति युगपद्भावि गति" इस युक्ति पर वह अपना मतवाद स्थापित करता है। वस्तुओकी गतियोंमें जो शृंखला या नियम देखा जाता है उसका कारण धर्म ही है, ऐसा प्रभाचन्द्रका वास्तविक अभिप्राय है या नहीं इसमें सन्देह है। उक्त शृंखलाके कारणोंमें धर्म भी एक है, यह बात स्वीकार्य है, परन्तु वस्तुओकी शृंखलाबद्धगतिमें धर्मके अतिरिक्त अन्य कारणोंकी भी आवश्यकता होती है; यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी। सरोवरमें

मत्स्यपंक्ति जिस श्रृंखलासे गमनागमन करती है, उस श्रृंखलामें केवल सरोवरका पानी ही एकमात्र कारण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मीनपंक्तिकी उपर्युक्त सुसंबद्ध गतिमें तालाबका पानी जिस प्रकार कारण बनता है उसी प्रकार मत्स्योंकी प्रकृति भी कारण बनती है। 'प्रमेय-कमलमार्तण्ड'में प्रभाचन्द्रने कहा है—

"विवादापन्नसकलजीवपुद्गलाश्रयाः सकृद्गतयः साधारणबाह्य-निमित्तापेक्षाः युगपद्भाविगतित्वादेकसरः सलिलाश्रयानेकमत्स्यगतिवत्। तथा सकलजीवपुद्गलस्थितयः साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षा युगपद्भाविस्थि-तित्वादेककुण्डाश्रयानेकबदरादिस्थितिवत्। यत्तु साधारणं निमित्तं स धर्मो-ऽधर्मश्च, ताभ्याम् विना तद्गतिस्थितिकार्यस्यासम्भवात्।"

इसका भावार्थ यह है कि "समस्त जीव और पौद्गलिक पदार्थोंकी गतिया एक साधारण बाह्य निमित्तकी अपेक्षा रखती है। क्यों कि ये समस्त जीव और पौद्गलिक पदार्थ युगपत् अर्थात् एक साथ गति-मान दिखलाई देते है। सरोवरके अनेक मत्स्योंकी युगपद्गति देखकर जिस प्रकार उस गतिके साधारण निमित्तरूप एक सरोवरमें वर्तमान जलका अनुमान होता है उसी प्रकार जीव पुद्गलकी गतिसे एक साधारण निमित्तका अनुमान करना पड़ेगा। समस्त जीव और पौद्गलिक पदार्थोंकी स्थितियां एक साधारण बाह्य निमित्तकी अपेक्षा रखती है; क्यों कि वे समस्त जीव और पौद्गलिक पदार्थ युगपत् स्थितिशील देखे जाते है। एक कुंडमें अनेक बेरोंकी युगपत् स्थिति देखकर जिस प्रकार उक्त स्थितिके साधारण निमित्तरूपसे कुंडका अनुमान होता है, उसी प्रकार जीव, पुद्गलकी स्थितिसे एक साधारण निमित्तका अनुमान

करना पडेगा। वे साधारण निमित्त यथाक्रम धर्म और अधर्म हैं; क्यों कि इन दोनोंके विना उपरोक्त गति-स्थितिरूप कार्य हो नहीं सकता।"

प्रभाचन्द्रके उपरोक्त वचनसे यही सिद्ध होता है कि अनेक पदार्थोंकी युगपत् गतिसे धर्मतत्त्वके अस्तित्वका अनुमान होता है। परन्तु जिस प्रकार एकके पीछे दूसरे पदार्थके जानेसे ही उन्हे शृंखला-वद्ध नहीं कह सकते उसी प्रकार दो या अधिक पदार्थोंकी युगपत् गतिसे ही उनके शृंखलावद्ध होनेका अनुमान नहीं किया जा सकता। गतियां युगपत् होनेसे ही वे शृंखलावद्ध हो जाय यह कोई नियम नहीं है। कल्पना कीजिए कि किसी तालावमें एक मछली उत्तरकी ओर दौडती है, एक मनुष्य पूर्वकी ओर तैरता है, पेड़से गिरा हुवा एक पत्ता पश्चिमकी ओर वहा जाता है और एक कंकर सरोवरके तलकी ओर वैठता जाता है; ये सव गतियां युगपत् है और ये युगपत् गतियां, गति-कारण जलसे ही संभव है, परन्तु इन सव गतियोंमें यौगपद्य होने पर भी कोई शृंखला (व्यवस्था) दिखलाई नहीं देती। इसी प्रकार धर्मको युगपत् गतियोंका कारण नहीं कहा जा सकता। धर्मको जैन दर्शनमें निष्क्रिय पदार्थ कहा गया है। गतिपरंपराकी शृंखलामें धर्मकी उपयोगिता स्वीकार्य है; परन्तु याद रखना चाहिये कि धर्म क्रियाशिल वस्तु नहीं है और इस लिए विश्वकी गतियोंमें जो शृङ्खला है उसका एकमात्र कारण धर्म ही है ऐसा नहीं माना जा सकता।

अतः हमे प्रतीत होता है कि अध्यापक चक्रवर्ती महाशयने पण्डितवर शीलके धर्म संवन्धी मतवादकी जो समालोचना की है वह युक्ति-संगत है। परन्तु गतिसमूहकी शृङ्खलाके कारणकी खोज करते

हुए अध्यापक चक्रवर्तीने अधर्मतत्त्व ला धरा है। स्थितिकारण अधर्म "युक्तिसे" धर्मका "पूर्वगामी" (Logically prior) है और अधर्मके फल अथवा कार्यका निरास करनेके लिये अथवा उसे किसी हद तक मन्द करनेके लिये धर्मके प्रयत्नसे शृङ्खलाकी उत्पत्ति हुई है ऐसा उनका मत प्रतीत होता है। विद्वान अध्यापकके इस मतको हम स्वीकार नहीं कर सकते। हमें भूलना न चाहिये कि धर्म और अधर्म दोनों निष्क्रिय तत्त्व हैं। उनके अस्तित्वसे गति-शृङ्खलाके आविर्भावको सहायता मिल सकती है, परन्तु गतिशृङ्खलाकी उत्पत्तिमें उनका क्रियाकारित्व बिल्कुल नहीं है।

सच बात तो यह है कि धर्म, अधर्म, आकाश और काल सम्मिलित रूपसे अथवा पृथक् पृथक्, वस्तुओंकी गतिपरपरामें शृङ्खला उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं है। इनका अस्तित्व शृङ्खलाके सहायक रूपमें माना गया होने पर भी ये सर्वथा निष्क्रिय द्रव्य हैं। विश्वनियमके कारणका निर्णय करनेमें अद्वैतवाद "एकमेवाद्वितीयम्" सत्पदार्थको लाता है और ईश्वरवाद एक महान स्रष्टाका निर्देश करता है। जैन दर्शन अद्वैतवाद और कर्तृत्ववाद, इन दोनोंका विरोधी है, अत एव शृङ्खलाबद्ध गतियोंका, और उसके साथ विश्ववर्ती नियमका कारण निश्चित करनेमें जैनोंको स्वभावत: गतिशील जीव और पुद्गलकी स्वाभाविक प्रकृति पर अवलम्बित रहना पड़ता है। सब जीवोंमे समान ही जीवके गुण रहे हुए हैं। इस लिये सब जीवोंके कर्म और क्रियापद्धति अधिकांशमें एक ही प्रकारके होते हैं। और एक ही काल, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गलके साथ मिलकर समस्त जीवोंको कार्य करना

पड़ता है, इस लिये भी जीवोमें एक नियम और शृङ्खलाका आविर्भाव होता है। हमें प्रतीत होता है कि जड़ जगतकी शृङ्खलाके सम्बन्धमें जैन दर्शन, आधुनिक विज्ञान-सम्मत मतका स्वीकार करनेमें तनिक भी आनाकानी नहीं करेगा। वर्तमान युगके जड विज्ञानके आचार्योंके समान जैन भी कह सकते हैं कि, जड जगतमें जो शृङ्खला है वह जड पदार्थके स्वाभाविक गुणोंमेंसे उत्पन्न हुई है। जडका संस्थान (Mass) और गति (Motion) गुरुत्वाकर्षण (Law of gravity)के नियम और जडमें वर्तमान आकर्षणविकर्षण शक्ति (Principles of attraction and repulsion) मेंसे ही जड जगतकी शृङ्खला उत्पन्न होती है। जड व्यापारों (Purely material phenomena) में जो नियम देखा जाता है उसकी प्रतिष्ठामें धर्म, अधर्म, आकाश और कालका अस्तित्व अत्यधिक सहायक है, यह बात भी यहां मान लेनी चाहिये। जगतमें जीवोंका अस्तित्व भी जडजगतकी शृंखलाका पोषक है; क्यों कि अनादि कालसे जो सब बद्ध जीव ससारमें भ्रमण कर रहे है, उनके प्रयोजन और अभीप्साके अनुसार जड द्रव्य अथवा पुद्गल धीरे धीरे बदलते आए हैं। इस प्रकार मालूम होता है कि, वस्तुओंकी गतिमें जो शृंखला है वह मूल तो वस्तुकी ही क्रियाशील प्रकृतिमें से ही उत्पन्न हुई है, और केवल धर्मतत्त्वका अस्तित्व ही इस शृंखलाकी प्रतिष्ठाका सहायक है ऐसा नहीं है। अधर्म, आकाशादि तत्त्व भी उसके परिपोषक हैं। तत्त्वार्थ-राजवार्तिककार विशेष रूपसे कहते हैं कि, पदार्थ स्वभावसे ही गति-स्थितिमें कर्तृत्वाधिकारी है। और वे धर्म अधर्मको 'उपग्राहक' कहते हैं। वे कहते है कि, अन्ध व्यक्ति चलनेमें लकड़ीका सहारा लेता है,

लकड़ी उसे चलाती नहीं, केवल उसके चलनेमें सहायता देती है। यदि लकड़ी क्रियाशील कर्ता होती तो वह अचेतन और निद्राग्रस्त व्यक्तिको भी चलाती। अत एव अन्धकी गतिमें लकड़ी उपग्राहक है। और दृष्टिके व्यापारमें प्रकाश सहायक है, देखनेकी शक्ति आंख ही है, प्रकाश दृष्टि-शक्तिका उत्पादक नहीं है। प्रकाश यदि क्रियाशील कर्ता होता तो वह अचेतन और सुप्त व्यक्तिको भी दर्शन कराता। अत एव दृष्टि-व्यापारमें प्रकाश उपग्राहक है। वे कहते हैं कि, "ठीक इसी प्रकार जीव और जड पदार्थ स्वयमेव ही गतिमान अथवा स्थितिशील होते है। उनके गति और स्थिति व्यापारमें धर्म और अधर्म, उपग्राहक अर्थात् निष्क्रिय हेतु हैं। वे उस गति या स्थितिके 'कर्ता' या उत्पादक नहीं हैं। धर्म और अधर्म यदि गति और स्थितिके कर्ता होते तो गति और स्थिति असंभव हो जाते।" धर्म और अधर्मको सक्रिय द्रव्य रूप माननेसे जगतमें गति और स्थिति असम्भव क्यों हो जाती, इस बातका भी प्रति-पादन किया गया है। धर्म और अधर्म सर्वव्यापक तथा लोकाकाशमें सर्वत्र व्याप्त हैं। अत एव जब जब धर्म किसी वस्तुको गतिमान करता तब तब ही अधर्म उसे रोक देता। इस प्रकार जगतमें स्थिति असंभव हो जाती। इसी लिये अकलंक देव कहते है कि, यदि धर्म और अधर्म निष्क्रिय द्रव्यके अतिरिक्त कुछ और होते तो जगतमें गति और स्थितिका होना असंभव हो जाता। गति और स्थिति जीव और जड़ पदार्थोंकी क्रियासापेक्ष है। धर्म और अधर्म गति और स्थितिके सहायक हैं और एक प्रकारसे धर्म तथा अधर्मके कारण ही गति और स्थिति संभवित होती है। यहां पर हम ज़रा आगे बढ़कर क्या यह नहीं कह सकते

कि, श्रृंखलाबद्ध गति और श्रृंखलाबद्ध स्थिति जीव और जड पदार्थोंकी स्वाभाविक क्रियाके आधीन है और उसके सहायक तथा अपरिहार्य हेतु होने पर भी धर्म और अधर्म सम्मिलित रूपसे या पृथक् पृथक् गति-स्थिति-श्रृंखलाके उत्पादक (Cause) नहीं हैं ?

जो लोग कहते है कि धर्म और अधर्म प्रत्यक्षके विषय नहीं हैं अतएव वे सत्पदार्थ नहीं है, उन्हें जैन अयुक्तवादी कहते है। प्रत्यक्षके विषय न हों ऐसे अनेक पदार्थ हमें सत्य मानने पड़ते हैं और हम उन्हे सत्य मानते भी है। पदार्थ जब गतिशील एवं स्थितिमान देखे जाते है तो कोई ऐसा द्रव्य भी अवश्य होना चाहिये कि जो उनके गति और स्थिति-व्यापारमे सहायता दे। इस युक्तिसे धर्म तथा अधर्मके अस्तित्व और द्रव्यत्वका अनुमान किया जाता है। कोई कोई कहते हैं कि, आकाश ही गतिका कारण है और आकाशसे भिन्न धर्म अथवा अधर्म द्रव्य माननेकी आवश्यकता नहीं है। जैन दार्शनिक इस मतवादकी नि.सारता दिखलानेके लिये कहते है कि, आकाशका गुण तो अवकाश देना ही है। यह बात समझमें आने योग्य है कि, अवकाशप्रदान यह गति-शील पदार्थोंको उनकी गतिमे सहायता देनेसे एक भिन्न वस्तु है। इन दोनो गुणोंकी यह मौलिक भिन्नता ऐसे दो द्रव्योंका अस्तित्व सिद्ध करती है कि जो मूलसे ही भिन्न हों। और इसी कारण धर्मतत्त्व आकाशसे भिन्न द्रव्य है। और यह भी ज्ञात होता है कि, यदि आकाश गतिकारण होता तो वस्तुएं अलोकमें प्रवेश करके लोकाकाशके समान वहां भी इधर उधर सञ्चार कर सकती थी। अलोक यह आकाशका अंश होने पर भी सर्वथा शून्य और पदार्थ रहित है। (इतना ही नहीं,

वहां तो सिद्ध भी प्रवेश नहीं कर सकते।) इससे ही माल्म होता है कि, धर्म सद्द्रव्य है, अलोकमें इसका अस्तित्व नहीं है, और लोकमें व्याप्त होकर लोकाकाश और अलोकाकाशमें एक बड़ी भिन्नता प्रतिपादित करता है। कोई कोई यह भी कहते है कि अदृष्ट ही गति-कारण है, धर्म द्रव्यकी सत्ता नहीं है। परन्तु याद रखना चाहिये कि चेतन जीव जो शुभाशुभ कर्म करता है, उसीके फलस्वरूप अदृष्टकी कल्पना की गई है। दलीलके लिये यह मान भी ले कि चेतन जीवके गमनागमन करानेमें अदृष्ट समर्थ है तो भी पाप-पुण्य कर्मोके अकर्ता और तज्जन्य अदृष्टके साथ किसी प्रकारका संबन्ध न रखनेवाले जो जड पदार्थ हैं उनकी गतिका कारण क्या हो सकता है? यह बात याद रखनी चाहिये कि, जैन मतानुसार धर्म, पदार्थोंको चलानेवाला कोई द्रव्य नहीं है, वह तो वस्तुओंकी गति—क्रियामें केवल सहायता देता है। गतिमें धर्मके समान एक निष्क्रिय कारण अवश्य मानना चाहिये। अदृष्टकी सत्ता मानें तो भी उससे धर्मको एक सत् और अजीव द्रव्य माननेमें कोई रुकावट पैदा नहीं होती।

(२)

अधर्म

विश्व-व्यापारके आधारकी खोज करते हुवे अनेक दर्शनोंको — खास करके प्राचीन दर्शनोंको — दो विरोधी तत्त्व मिले है। जरथुस्त-प्रवर्तित धर्ममें हम "अहुरोमज्द" और "अहरिमान" नामक दो परस्पर विरोधी—हितकारी और अहितकारी—देवताओंका परिचय पाते है। प्राचीन याहूदी धर्म और क्रिश्चियन धर्ममें भी ईश्वर और उसका चिरकालीन

दुश्मन शैतान मौजूद है। भारतमें देव और असुरकी धर्म-कथा पुरातन कालसे चली आती है। धर्मविश्वासकी बातको छोड़कर यदि दार्शनिक तत्त्वविचारकी आलोचना की जाय तो वहां भी द्वैतवादकी एक असर दृष्टिगोचर होती है। उन सब द्वैत वादोंमें आत्मा और अनात्माका भेद विशेष उल्लेख योग्य है और इस भेदकी कल्पना प्रायः सभी दर्शनोंमें किसी न किसी रूपमें रही हुई है। सांख्यमें यह द्वैत पुरुष–प्रकृतिके रूपमें वर्णित है; वेदान्तमें ब्रह्म और मायाके सम्बन्धके विचारमें द्वैतका कुछ आभास दिखलाई देता है; फ्रेंच तत्त्ववेत्ता डेकार्टके अनुयायी आत्मा और जड़की भिन्नता देख सके थे और इन्होंने उनका समन्वय करनेका वृथा प्रयास किया था। जैन दर्शनमे जीव और अजीव ये परस्पर भिन्न मूल तत्त्व है। इन सब द्वैतोंके अतिरिक्त अन्य भी कई प्रकारके द्वैत दार्शनिक स्वीकार करते है। यथा—सत् और असत् (Being and Non-being), तत्त्व और पर्याय (Noumenon and Phenomenon) आदि।

प्राचीन ग्रीकोंने एक अन्य सुप्रसिद्ध भेदकी कल्पना की थी, वह भेद गति और स्थितिके बीचका है। हेराक्लीटूासके शिष्योंके मतानुसार प्रत्येक स्थिति यह वास्तविक तात्त्विक व्यापार नहीं है, पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है और इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण गतिमान है ऐसा कह सकते है। दूसरी और पारमेनिडिसके शिष्य कहते हैं कि, गति असंभव है, परिवर्तित न हो ऐसी स्थिति ही स्वाभाविक तत्त्व है। इन दोनों पक्षोंके वादविवादसे गति और स्थिति, दोनोंकी सत्यता और तात्त्विकता समझी जाती है। जो लोग केवल तत्त्वविचारके ही पक्षपाती

नहीं है और लोकव्यवहारकी ओर भी दृष्टि रखते है वे गति और स्थितिमेंसे किसी एककी सत्ताको सर्वथा अस्वीकार करके दूसरेकी तात्त्विकता नहीं दिखला सकते। जैन अनेकान्तवादी हैं अतएव वे गति-कारण धर्म कौर स्थिति-कारण अधर्म इन दोनोंकी तात्त्विकताको स्वीकार करें तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है।

धर्मके कारण गति है; अधर्मके कारण स्थिति है; धर्म और अधर्म दानों सत् द्रव्य है, और अजीव द्रव्योंमें इनका समावेश होता है। दोनों ही लोकाकाशमे व्याप्त है और सर्वगत व्यापक पदार्थ है। महाशून्य अलोकमें दोनोंका अस्तित्व नहीं है। " धर्म इससे कुछ विशेष है, वह नियमबद्ध गतिपरंपराका कारक या कारण है—जीव और पुद्गलकी गतियोंमें जो श्रृङ्खला वर्तमान है उसका कारण धर्म ही है "— यह मानना युक्तिसंगत नहीं है। जैन दर्शनके मतानुसार जीव और पुद्गल दोनो स्वयमेव ही गतिशील हैं और धर्म पूर्णतः निष्क्रिय पदार्थ है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि, धर्म विश्ववर्ती श्रृङ्खलाका विधायक है। अधर्म भी निष्क्रिय द्रव्य है। जीव और पुद्गल स्वयमेव ही स्थितिशील हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि, यदि जगतमें श्रृंखलाबद्ध स्थिति हो तो उसका कारण अधर्म ही है। जीव और पुद्गलका स्वभाव ही उसका कारण है। धर्म और अधर्ममेंसे कोई भी जगतवर्ती नियमका कर्ता नहीं है। और इनमेंसे किसी एकको दूसरेका युक्तिसे पूर्वगामी (Logically prior) नहीं कह सकते। धर्म और अधर्ममेंसे कोई एक दूसरेके व्यापारकी प्रतिक्रिया करता है और इस चिरविरोध या

अनन्त संग्रामके ऊपर विश्वशृङ्खला अवलम्बित है, ऐसा मानना युक्ति-विरुद्ध है। ग्रीक दार्शनिक आविष्कृत 'राग' (Principle of love) और 'द्वेष' (Principle of hate) के सिद्धान्तके साथ धर्म और अधर्मकी तुलना नहीं हो सकती। हमें प्रतीत होता है कि, धर्मको बहिर्मुखी गतिका कारण (Principle "guaranteeing motion within limits") और अधर्मको अन्तर्मुखी गतिका कारण या मध्याकर्षणकारण (कोष्टक Principle of Gravitation) कहना ठीक नहीं है। परमाणुकाय संरक्षणमें जिन दो परस्पर विरोधी (Positive and negative) वैद्युतिक शक्तिका व्यापार (Electro magnetic influences) देखा जाता है, उनके समान परस्पर विरोधी किन्हीं दो तत्त्वोंके साथ धर्म अधर्मकी तुलना नहीं हो सकती। धर्म और अधर्म सर्वथा निष्क्रिय द्रव्य है। जिस प्रकार "केन्द्राभिमुखी" और "केन्द्रवहिर्गामी" गति (Centripetal and Centrifugal forces) से वे नहीं मिलते उसी प्रकार किसी प्रकारके भी क्रिया-कारित्व (dynamic energising) का आरोप उनमें नहीं किया जा सकता।

जैन दर्शनमें अधर्मका अर्थ पाप या नीति विरुद्ध कर्म नहीं है। यह एक सत् अजीव तत्त्व है, वस्तुओंकी स्थितिशीलताका एक कारण है। वह जीव और जड वस्तुओंका स्थितिकारण माना जाता है इससे यह न समझ लेना चाहिए कि अधर्म गतिशील पदार्थोंको रोक देता है। अधर्म स्थितिका कारक सहभावी कारण है। द्रव्य-संग्रहकारने इसे "ठाणजुदाण ठाणसहचारी" (स्थानयुतानां स्थान-

सहकारी) अर्थात् स्थितिशील पदार्थका स्थितिसहायक कहा है। जो स्थितिशील पदार्थकी स्थितिको सहायता देता है उसे विशुद्ध दर्शनवाले अरिहंतोने अधर्म कहा है। पशुओंकी स्थितियोंका जिस प्रकार पृथ्वी साधारण आश्रय है उसी प्रकार अधर्म जीव और पुद्गलोंके स्थितिव्यापारका साधारण आश्रय है (तत्त्वार्थसार, अध्याय ३-३५-३६) गमनशील पशुओको पृथ्वी रोक नहीं देती, परन्तु पृथ्वी न हो तो उनकी स्थिति भी सम्भव नहीं, उसी प्रकार यद्यपि किसी भी गतिशील वस्तुको अधर्म रोक नहीं देता तथापि अधर्मके विना गतिशील वस्तुओंकी स्थिति भी सम्भव नहीं। ऐसे समय जैन लेखक अधर्मके साथ छायाको भी तुलना करते है। वे कहते है—"जिस प्रकार छाया तापसे झुलसते हुवे प्राणियोंकी स्थितिका और पृथ्वी अश्वोंकी स्थितिका कारण है उसी प्रकार अधर्म भी पुद्गलादि द्रव्योंकी स्थितिका कारण है।"

अधर्म 'अकर्ता' अर्थात् निष्क्रिय तत्त्व है। यह वस्तुओंकी स्थितिका हेतु या कारण होने पर भी कदापि क्रियाकारी (Dynamic or productive) कारण नहीं है। यही कारण है कि अधर्मको स्थितिका "वहिरंग हेतु" अथवा "उदासीन हेतु" कहा जाता है। वह "नित्य" और "अमूर्त" है; उसमें स्पर्श, रस और गंधादि गुण नहीं है। इन सब बातोंमें धर्म, काल और आकाशसे अधर्मकी समानता है। इसका विशिष्ट गुण है और यह वस्तुओंके स्थितिपर्यायका आधार है, इस लिये यह सद्द्रव्य है। अधर्म, द्रव्यतत्त्वरूपमें जीवके समान है. जीवके समान वह भी अनाद्यनंत और अपौद्गलिक

(Immaterial) है। पहिले कहा जा चुका है कि अधर्म अजीव अर्थात् अनात्मद्रव्य है।

धर्म, काल, पुद्गल और जीवके समान अधर्म, लोकाकाशमें वर्तमान है। अनन्त आकाशमें उसका अस्तित्व नहीं है। अधर्म वर्तमान (अस्ति) और प्रदेशविशिष्ट (काय) है इस लिए उसकी गणना पंच अस्तिकायमें की गई है। एक अविभाज्य पुद्गल जितना स्थान रोकता है उसे 'प्रदेश' कहते हैं। अधर्म लोकाकाशकी सीमामें रहता होनेसे उसके प्रदेश अनन्त नहीं है। वे निर्दिष्ट सीमामें रहते होनेसे उनका अंत है। जैन अधर्म, धर्म और जीवके प्रदेशोंको 'असंख्य' अर्थात् अगण्य कहते है।

इस प्रकार अधर्म 'असंख्येय-प्रदेश' होने पर भी एक ही है —केवल एक ही व्यापक पदार्थ है। वह विश्वव्यापी ("लोकावगाढ") और विस्तृत ("पृथुल") है। धर्मके समान अधर्मके प्रदेश भी परस्पर संयुक्त हैं; अतएव वह एक व्यापक पूर्ण पदार्थ कहलाता है। इस विषयमें अधर्म, कालतत्त्वसे भिन्न है, क्योंकि कालाणु परस्पर संयुक्त नहीं है।

धर्म और अधर्म, दोनोंको मूलतः एक ही द्रव्य कहा जा सकता है या नहीं? दोनों लोकाकाश व्यापी हैं अत एव दोनोंका "देश" एक है। दोनोंका 'संस्थान' अर्थात् परिमाण एक ही है। दोनों एक 'काल' मे वर्तमान है। दार्शनिक एक ही दर्शन अर्थात् प्रमाणकी सहायतासे दोनोके अस्तित्वका अनुमान करते है। धर्म और अधर्म "अवगाहन" से एक है अर्थात् दोनों परस्पर घनिष्टतासे संयुक्त हैं। दोनों तत्व "द्रव्य" हैं, अमूर्त है और ज्ञेय हैं। अत एव

धर्म और अधर्म दोनोंको पृथक् पृथक् न मानकर एक ही द्रव्य मानें तो क्या दोष है? इसके उत्तरमें तत्त्वार्थ-राजवार्तिककारका कथन है कि, धर्म और अधर्मके कार्य भिन्न है, अत एव वे दोनों भिन्न द्रव्य हैं। एक ही पदार्थमें एक ही समयमें रूप, रस और अन्य व्यापार देखे जाते हैं, परन्तु क्या इससे हम रूप रसादिको एक ही व्यापार कह सकते है?

आकाश तत्त्वको गति और स्थितिका कारण मानकर धर्म और अधर्मके अस्तित्वसे इन्कार नहीं किया जाता। आकाशका लक्षण तो अवकाश अर्थात् स्थान देना ही है। जिस प्रकार नगरमें घर आदि होते हैं उसी प्रकार आकाशमें धर्म, अधर्म और अन्य द्रव्य रहे हुए हैं। यदि स्थिति और गति कराना आकाशका गुण होता तो अनन्त महा-शून्य अलोकमें भी इन गुणोंका अभाव न होता। अलोकाकाशमें गति और स्थिति संभव होती तो लोकाकाश और अनंत अलोकाकाशमें कोई अन्तर न रहता। व्यवस्थित लोक और अनन्त अलोकके भेदसे ही मालूम होता है कि आकाशमें गति-स्थितिके निमित्त कारणत्वका आरोप नहीं किया जा सकता और गति-स्थितिके कारण स्वरूप धर्म और अधर्मका अस्तित्व मानना आवश्यक है। यद्यपि यह सच है कि, अवकाशको देनेवाले आकाशके बिना धर्म और अधर्मका कोई भी कार्य नहीं हो सकता, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आकाश और धर्म-अधर्ममें कुछ भेद ही नहीं है। वैशेषिक दर्शनमें दिग्, काल और आत्माको भिन्न भिन्न पदार्थ माना है। आकाशके बिना इनमेंसे किसीका भी कार्य नहीं हो सकता, इतना होने पर भी इन सबका अस्तित्व

आकाशसे पृथक् माना गया है। यदि एक ही द्रव्यमें भिन्न भिन्न कार्योंका आरोप किया जा सकता है, तो न्यायदर्शन संमत अनेकात्मवाद किस प्रकार युक्तियुक्त ठहरेगा ? इसके अतिरिक्त सांख्यदर्शन प्रकृतिमें सत्त्व, रजस् और तमस् नामक भिन्न भिन्न तीन गुणोंका आरोप करता है, वह भी किस प्रकार उचित माना जायगा ? इन तीन गुणोंमें-से किसी भी एक गुणको भिन्न भिन्न तीन प्रकारोंसे काम करनेवाला मान लिया जाता तो भी काम चल जाता। मूलतः ही भिन्न कार्योंका कारण एक हो तो सांख्यसंमत पुरुषबहुत्ववाद सिद्ध नहीं हो सकता। बौद्ध दर्शन, रूपस्कंध, वेदनास्कंध, संज्ञास्कंध, संस्कारस्कंध और विज्ञानस्कंध नामक पांच भिन्न भिन्न स्कन्धोंका उल्लेख करता है। अन्तिम स्कन्धके विना शेष स्कन्धोंका होना असम्भव होते हुवे भी बौद्ध पांचों स्कन्ध मानते हैं। अर्थात् एक पदार्थ दूसरेके आश्रित हो तो भी, यदि दोनोंके कार्योंमें मौलिक भेद हो तो, दोनों पदार्थोंका पृथक् अस्तित्व मानना पड़ता है।

धर्म और अधर्म अमूर्त द्रव्य है, अतः वे अन्य पदार्थोंकी गति और स्थितिमें किस प्रकार सहायक हो सकते हैं ? — इस प्रकारकी शंका करनेका कारण नहीं है। द्रव्य अमूर्त होने पर भी कार्य कर सकता है। आकाश अमूर्त होने पर भी अन्य पदार्थोंको अवकाश देता है। सांख्यदर्शन-संमत प्रधान भी अमूर्त है, तथापि पुरुषके लिये उसका जगत-प्रसवका कार्य माना गया है। बौद्ध दर्शनका विज्ञान अमूर्त होने पर भी नाम रूपादिकी उत्पत्तिका कारण है। वैशेषिक संमत अपूर्व भी क्या है ? वह भी अमूर्त है, तथापि वह जीवके सुखदुःखादिका

नियामक है। अत एव धर्म और अधर्म अमूर्त होते हुवे भी कार्य करते हैं, इसमें शंकाको स्थान नहीं है।

धर्म और अधर्म शब्द साधारणत. नैतिक अर्थमें व्यवहृत होते है, तथापि जैन दर्शनमें वे दोनों द्रव्य हैं, दोनों ही अजीव तत्त्व है। कोई कोई धर्म और अधर्मके इन दोनो अर्थोमें पारस्परिक संबन्ध तलाश करनेका यत्न करते है, उसीकी आलोचना हम उपसंहारमें करेगे। धर्म गतिका कारण है और अधर्म स्थितिका कारण है। नैतिक अर्थमें धर्मके माने पुण्यकर्म और अधर्मके माने पापकर्म होता है। किसी किसीके मतानुसार धर्मका "गतिकारण" यह तात्विक अर्थ ही मूल और प्राचीन है, पिछेसे उसीमेंसे धर्मका नैतिक अर्थ निकला है। वे कहते हैं कि जीव द्रव्य स्वभावत. ही उड्ढगई (ऊर्ध्वगति) है। अर्थात् वह जिस अंशमें विशुद्ध स्वभावमे स्थित होगा उस अंशमें उसकी ऊर्ध्व गति होगी और वह उतना ही लोकाग्रकी ओर आगे बढ़ेगा। धर्म यह गतिकारण है, अतः सुखमय ऊर्ध्वलोकमें जानेमे जीवको जो सहायक हो उसे धर्म कह सकते है। इस ओर फिर पापस्पर्शरहित पुण्यकर्म करनेसे ही जीव ऊर्ध्वलोकमें जा सकता है। अत एव जो "धर्म" शब्द पहिले "जीवकी ऊर्ध्व गतिमें सहायक" इस अर्थको प्रकट करता था वह शब्द समय वीतने पर पुण्यकर्मवाचक हो गया। इसी प्रकार अधर्म मूलत. 'जीवकी स्थितिमें सहायक' इस अर्थका द्योतक होनेसे बादमें उन पापकर्मोका वाचक हो गया कि जिससे जीव संसारमें बंधा रहता है। इस मतमें हमारी श्रद्धा नहीं है। धर्म और अधर्मके तात्त्विक और नैतिक अर्थोमें ऊपर जो सम्बन्ध स्थापित करनेका प्रयत्न

किया गया है वह न तो युक्तिसंगत (Logical) ही है और न ही कालक्रमसे मिलता हुआ (chronological) ही है। यह बात किस प्रकार युक्तियुक्त हो सकती है कि धर्म जीवकी केवल स्वाभाविक ऊर्ध्व गतिमें ही सहायक है? जैन दर्शनमें तो कहा गया है कि धर्म हर प्रकारकी गतिका कारण है। जिस प्रकार वह जीवकी गतिमें सहायता देता है उसी प्रकार पुद्गलकी गतिमें भी सहायक है। हर प्रकारकी गतिका कारण धर्म, केवल जीवकी ऊर्ध्व गतिमें ही सहायता करे, यह किस प्रकार माना जा सकता है? जब जीव, जैनसमत नरकोंमेंसे किसी एकमें जाता है तब धर्म, जीवकी उस अधोगतिमें भी सहायता देता है ऐसा हम समझ सकते है। धर्मतत्त्व जिस प्रकार ऊर्ध्व गतिमें सहायक है उसी प्रकार अधोगतिमें भी सहायता देता है। इसी कारण धर्म शब्दके तात्त्विक अर्थ ' गतिकारण ' के साथ उसके नैतिक अर्थ ' पुण्यकर्म ' का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। अधर्मके विषयमें भी कहा जा सकता है कि, यह तत्त्व जिस प्रकार दुःखमय संसार अथवा यन्त्रणापूर्ण नरकोंमें जीवकी स्थितिको संभवित बनाता है उसी प्रकार वह आनंदधाम ऊर्ध्वलोकमें भी जीवकी स्थितिको संभवित करता है। अत एव स्थितिकारण अधर्मतत्त्वके साथ पापकर्मरूप अधर्मका कोई संबन्ध नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यह भी नहीं कहा जा सकता कि पुण्यकर्म करनेमें अमुक प्रयत्नशीलता होती है और पापकर्ममें अमुक जडता होती है, अत एव गतिकारणवाचक धर्म शब्दके साथ पुण्यकर्मवाचक धर्म शब्दका सम्बन्ध है, और स्थिति–कारणवाचक अधर्म शब्दसे पापकर्मवाचक अधर्म शब्दका सम्बन्ध

है। जैनधर्मकी नीतिमें ही नहीं अपितु भारतकी लगभग सभी धर्म-नीतियोंमें एक बात मानी गई है कि पुण्यवान, सुकर्मी अथवा धर्मसाधक व्यक्ति क्रियावान न भी हो। भारतीय धर्मनीतिमें अचंचल स्थिति या चिरगंभीर धैर्यकी अनेक स्थानोंमें प्रशंसा की गई है। और उसीको साधनाका मूल एवं लक्ष्य कहा है। इस दृष्टिसे देखते हुए धर्मकी अपेक्षा अधर्म ही विशेष धर्मपोषक है ऐसा कह सकते हैं।

सच बात तो यह है कि, गति-स्थिति—कारणरूप धर्म-अधर्मकी तात्त्विकताका स्वीकार यह जैन दर्शनकी विशिष्टता है। इन शब्दोंके नैतिक और तात्त्विक अर्थोंमे संबंध स्थापित करनेका प्रयत्न सर्वथा व्यर्थ प्रतीत होता है।